मानवता के दूत
(भाग-1)

संगीता प्रकाशन
30/64; विश्वास नगर, गली नम्बर 8,
शाहदरा, दिल्ली-110032

मानवता के दूत

भाग-1

जय प्रकाश कादम

संगीता प्रकाशन

संस्करण : प्रथम, 1990
प्रकाशक : संगीता प्रकाशन
30/64, विश्वास नगर, गली नम्बर 8,
शाहदरा, दिल्ली-110032
मुद्रक : जितेन्द्र प्रिंटर्स, बाबर पुर रोड, शाहदरा, दिल्ली-110032
मूल्य : रुपये 35/मात्र

MANAVTA KE DOOT by Jai Prakash Kardam
Price Rs. 35/- only

भूमिका

दुनिया में मनुष्य सर्वोपरि है। मनुष्य से बढ़कर कोई चीज नहीं है। मनुष्य की सेवा सबसे बड़ा धर्म है। इसी में सुख है, कल्याण है। परोपकार और सदाचरण जीवन के मूल आदर्श हैं। यही नैतिकता का मार्ग है। नैतिक मार्ग पर चलते हुए अपना तथा अपने साथ मानवता का कल्याण करना जीवन का सर्वोच्च ध्येय है।

श्री जय प्रकाश कर्दम की इस पुस्तक 'मानवता के दूत' में मानवता के ऐसे ही सेवकों का परिचय दिया गया है जिन्होंने अपना सारा जीवन मानव कल्याण में लगाया और अपना सर्वस्व मानव कल्याण के लिए न्यौछावर कर दिया। इन मानव दूतों के जीवन परोपकार और सदाचरण के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। उनके जीवन से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। श्री कर्दम का यह कार्य प्रशंसनीय है। उनकी लेखन कला का और अधिक विकास हो, मेरी कामना है।

धर्मवीर

रैदास जयन्ती, 1990

एफ—115, प्रगति विहार, लोदी रोड
नई दिल्ली—110003

विषय-सूची

खंड-1

खंड-2

खंड-3

गौतम बुद्ध

छठी शताब्दी ई0 पूर्व में हिमालय की तराई में कपिलवस्तु नाम का शाक्यों का एक गणराज्य था। यहीं पर 563 ई0 पूर्व में वैशाख पूर्णिमा के दिन भगवान गौतम बुद्ध का जन्म हुआ। इनका बचपन का नाम सिद्धार्थ था, किन्तु उनका गोत्र गौतमथा इसलिए ये 'सिद्धार्थ गौतम' और बुद्ध बनने के बाद 'गौतम बुद्ध' कहलाए। इनके पिता का नाम शुद्धोधन था जो कपिलवस्तु के एक सम्पन्न जमींदार और राजा थे। इनकी माता का नाम महामाया था। अपने गर्भ के अन्तिम दिनों में महामाया अपने पिता के घर 'देवदह' जा रही थी कि रास्ते में ही कपिलवस्तु से कुछ मील की दूरी पर लुम्बिनी नामक शालवन में सिद्धार्थ पैदा हुए। यह स्थान वर्तमान नेपाल राज्य के अतर्गत और भारत की सीमा से 5 मील की दूरी पर है। इनके विषय में ज्योतिषियों ने यह भविष्यवाणी कर दी थी कि बड़ा होकर यह बालक या तो चक्रवर्ती सम्राट बनेगा नहीं तो बुद्ध बनेगा और संसार के अज्ञान और अन्धकार का नाश करेगा। सिद्धार्थ के जन्म के एक सप्ताह बाद ही इनकी माता का देहान्त हो गया था। इनका लालन-पालन इनकी मौसी तथा सौतेली माँ महाप्रजापति गौतमी ने किया। सिद्धार्थ का एक छोटा भाई और था, उसका नाम नन्द

था। वह शुद्धोधन और महाप्रजापति गौतमी से उत्पन्न था। महाप्रजापति गौतमी, महामाया की बड़ी बहन थी। सिद्धार्थ के चचेरे-फुफेरे, और भी कई भाई-बहन थे, उन्हीं के साथ वह खेलते-कूदते थे।

राजकुमार सिद्धार्थ का पालन-पोषण बहुत अच्छी तरह हुआ। आठ वर्ष की अवस्था में सिद्धार्थ की शिक्षा-दीक्षा शुरू हुई तथा शीघ्र ही वे समस्त दर्शनों और अन्य शास्त्रों में पारंगत हो गए। क्षत्रिय कुल में पैदा होने के कारण उनको धनुष चलाने तथा अन्य शास्त्रों का प्रयोग करने की शिक्षा भी दी गई। यद्यपि वह विद्वान थे किन्तु उन्हें शरीर-श्रम से घृणा न थी। 'वप्रमङ्गल' के उत्सव के समय अन्य शाक्यों की तरह सिद्धार्थ भी अपने हाथ से हल चलाया करते थे। वह अपने खेतों को देखने भी चले जाते थे। उनके लिए भोग-विलास की सारी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध थीं किन्तु इन सब बातों में सिद्धार्थ का मन बिलकुल न लगता था।

बचपन से ही सिद्धार्थ का स्वभाव विचारशील था। वह प्राय: एकान्त में बैठकर दुनिया की अच्छी बुरी बातों पर विचार किया करते थे। वह प्रायः सोचा करते कि मनुष्य रोग से ग्रस्त क्यों होता है? वह बूढा क्यों होता है? वह क्यों मरता है? क्या इन दुःखद अवस्थाओं से बचने का कोई उपाय है? सिद्धार्थ को संसार से कुछ विरक्त तथा अधिक विचार-मग्न देख शुद्धोधन को डर लगा कि कहीं सिद्धार्थ सन्यासी न बन जाए। इसके लिए उन्होंने सोलह वर्ष की अल्पायु में ही यशोधरा नाम की एक शाक्यकुमारी के साथ सिद्धार्थ का विवाह कर दिया। उनके एक पुत्र भी हुआ जिसका नाम राहुल था।

किन्तु इस सब के उपरान्त भी उनका मन सांसारिकता में



रमा नहीं। उनका कारुणिक हृदय प्रायः सोचता रहता, 'मनुष्य मनुष्य का शोषण क्यों करता है? लोग परस्पर वैर, वैमनस्यता क्यों रखते हैं? निज संघर्षों के बीच फंसा मनुष्य क्या मुक्त नहीं हो सकता है?' मानव के दारुण दुःखों से उनका हृदय बहुत द्रवित हुआ और 28 वर्ष की आयु में एक दिन राजसी ठाठ-बाट छोड़कर मानव के दुःखों से मुक्ति का उपाय खोजने वह घर से निकल पड़े। अनेक विद्वानों और तपस्वियों के सम्पर्क में वे आए। निरंजना (वर्तमान नीलाजन) नदी के किनारे एक वृक्ष के नीचे उन्होंने छः साल तक कठोर तपस्या की। अन्त में 528 ई॰ पूर्व मे 35 वर्ष की अवस्था में वैशाख पूर्णिमा के ही दिन बौद्ध गया (बिहार में) के निकट पीपल के एक पेड़ के नीचे उनको 'बुद्धत्व' (ज्ञान) प्राप्त हुआ और वह 'बुद्ध' हो गए।

बुद्ध होने के बाद वाराणसी के निकट सारनाथ में उन्होंने अपना प्रथम उपदेश दिया, जिसे 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' कहा जाता है। इसके बाद पैंतालीस वर्ष तक वे निरन्तर इधर-उधर घूमते और उपदेश देते रहे। सारनाथ में अपने धर्म का उपदेश करके गौतम बुद्ध ने वहीं वर्षा-वास(बरसात के मौसम में आवास)किया। वर्षा के अन्त में सारनाथ छोड़ने तक इन चार महीनों में भगवान बुद्ध के अनेक शिष्य वहाँ हो गए थे।

भगवान बुद्ध की सारी शिक्षा, उनका सारा दर्शन, असुख (अर्थात् दुःख) अनित्य, अनात्म इन तीन शब्दों में निहित है। बुद्ध ने चार आर्य सत्य बतलाए है, यथा-(1) सर्व दुःख अर्थात् सब कुछ दुःखमय है।(2)दुःख समुदय अर्थात् दुःख क्यों होता है, उसका कोई न कोई कारण होता है। (3) दुःख निरोध अर्थात दुःखों से मुक्त हुआ जा सकता है। और (4) दुःख निरोध प्रति-

पद अर्थात दुःखों से मुक्त होने का मार्ग। यह चौथा आर्य सत्य ही मध्यम-प्रतिपद अर्थात् मध्यम मार्ग है। यही वह मार्ग है जिस पर चलने से अपना तथा साथ ही साथ लोक का भी कल्याण किया जा सकता है। मध्यम मार्ग पर मनुष्य कैसे चल सकता है। इसके लिए भगवान बुद्ध ने आठ बातें बताई हैं, जिनके अनुसार आचरण करना चाहिए। यही अष्टांग मार्ग कहलाता है। ये आठ मार्ग है सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाक्, सम्यक कर्म, सम्यक-आजीविका, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि। इस अष्टांग मार्ग पर चलने से मन की जो संतुलित स्थिति पैदा होती है, उसी का नाम 'निर्वाण' है, अर्थात निर्वाण का मतलब है—राग-द्वेष से मुक्ति।

भगवान बुद्ध ने शील (आचरण) पर बहुत बल दिया। मोटे तौर पर हिंसा से बचना, चोरी न करना, काम (वासना) और मिथ्या आचरण से दूर रहना, झूठ न बोलना तथा प्रमाद पैदा करने वाले पदार्थों का सेवन न करना ही सदाचरण हैं। इसे ही 'पंचशील' कहा जाता है।

भगवान बुद्ध के चिंतन का केन्द्र बिन्दु था—मनुष्य। उन्होंने केवल मनुष्य के दुःखों और उनके निवारण पर ही ध्यान दिया। जिन बातों से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता था उनकी ओर बुद्ध ने कोई ध्यान नहीं दिया। इसीलिए कुछ (दस) बातों को उन्होंने अव्याकृत (अकथनीय) कहा। उनका मानना था कि दुःखों का कारण इच्छा का वह विकृत रूप है जिसे तृष्णा कहा जाता है। इसी से राग और आसक्ति बढ़ती है। तृष्णा के नाश में ही सुख है।

समाज के सभी वर्गों से उनका सम्पर्क हुआ। समाज के सभी

रूपों को उन्होंने देखा और सहा। उन्हें असंख्य लोगों से सम्मान मिला तो कहीं उन्हेंविरोध और अपमान का भी सामना करना पड़ा। बुद्ध पहले धर्मनायक थे जिन्होंने अपने धर्म के लिए किसी जाति और देश की सीमा नहीं रखी। उन्होंने संसार के कोने-कोने में अपने शिष्यों को धर्म प्रचार के लिए भेजा। सभी जातियों और वर्गों के लोगों को उन्होंने भिक्षु संघ में सम्मिलित किया। 45 वर्षों तक निरन्तर भ्रमण करने और उपदेश देते रहने के पश्चात् अन्त में 80 वर्ष की आयु में 483 ई० पूर्व में, कुशीनगर के निकट शाल वनों में भगवान गौतम बुद्ध ने संसार से विदा ली। इस घटना को 'महापरिनिर्वाण' कहा जाता है।

भगवान गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद कुशीनगर, मगध, वैशाली, कपिलवस्तु, अहकप्प, रामग्राम तथा वेठ द्वीप के राज्यों ने उनके अवशेषों पर स्तूप बनवाए। बुद्ध की शिक्षाओं के महत्व का इसी से पताचलता है कि आज भी दुनिया में एक तिहाई लोग बौद्ध हैं। भगवान बुद्ध का धर्म पूजा और प्रसाद का धर्म नहीं है। अपितु उनका धर्म शील औरसदाचार का धर्म है। बुद्ध एक प्रकाश पुंज हैं और सारा जगत उनके प्रकाश से आलोकित है।दुनिया के प्रथम वैज्ञानिक—चिंतक, अद्भुत विचारक, पथ-प्रदर्शक, कुशल का उपदेश देने वाले, मानवता के महान प्रवक्ता तथा दया और करुणा के उस महासमुद्र के समक्ष सारा विश्व नतमस्तक है।

सारिपुत्र

गौतम बुद्ध के ही समय की बात है। राजगृह में सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन नाम के दो मित्र थे। कहते हैं दोनों का जन्म भी एक ही दिन हुआ था। वे दोनों साथ-साथ ही खेलते और पढते थे। दोनों में दाँत-काटी रोटी थी। पहले वे दोनों संजय नाम के एक दार्शनिक के शिष्य थे, किन्तु बाद में आकर भगवान बुद्ध के प्रधान शिष्य तथा उनके धर्म के आधार-स्तम्भ बन गए थे। सारिपुत्र का महत्व तो, इतना ज्यादा था कि भगवान गौतम बुद्ध उनको अपने धर्म-शासन का सेनापति कहते थे।

धर्मसेनापति सारिपुत्र का जन्म नालन्दा के पास 'नालक' नामक गाँव में एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। आजकल इस गाँव का नाम सारिचक है। सारिपुत्र के नाम पर ही नालक गाँव का नाम सारिचक पड़ा होगा। सारिपुत्र के पिता का नाम वंगन्त तथा माता का नाम रूपसारि था। सारिपुत्र के तीन भाई तथा तीन बहनें भी थीं। सबसे बड़े सारिपुत्र ही थे। उनके तीनों भाइयों के नाम चुन्द, उपसेन और रेवत तथा बहनों के नाम चाला, उपचाला और शिशूपचाला थे। सारिपुत्र के बौद्ध धर्म में प्रव्रजित हो जाने पर उनके सभी भाई बहन भी बौद्ध धर्म में प्रव्र-

जित हो गए थे तथा सब के सब अपने समय के प्रसिद्ध भिक्षु और भिक्षुणी हुए।

संजय के आश्रम में रहकर उन्होंने मीमांसा तथा दूसरे अनेक शास्त्रों को पढा। ब्राह्मण धर्म और दर्शन के वह प्रगाढ़ पण्डित हो गए थे। किन्तु वे जिस तत्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे। वह उन्हें नहीं मिल पाता था।

एक दिन सारिपुत्र किसी काम से राजगृह में घूम रहे थे। रास्ते में उन्हें अश्वजीत नाम का भिक्षु दिखाई पड़ा। भिक्षु की सौम्य-शान्त आकृति देखकर सारिपुत्र बहुत प्रभावित हुए। सारिपुत्र की जिज्ञासा पर अश्वजीत ने बुद्ध के धर्म के सिद्धान्तों के बारे में बताया। सारिपुत्र को यह सब बड़ा अद्भुत लगा। उसी दिन उन्होने अपने परममित्र महामौद्गल्यायन से अश्वजीत ने सुने 'बुद्धवाद' पर चर्चा की। मन में निश्चय करके वे दोनो अपने गुरु संजय के पास गए और बौद्ध धर्म ग्रहण करने की अनुमति मांगी। संजय ने उन्हें ऐसा करने से मना किया। लेकिन गुरु की अनुमति के बिना ही दोनों ने भगवान बुद्ध के पास जाकर बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली। कहा जाता है कि सारिपुत्र और मौद्गल्यायन जैसे सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थियों के चले जाने पर संजय के आश्रम के सभी विद्यार्थी भगवान बुद्ध के पास चले गए और इस शोक में ही संजय की मृत्यु हो गई थी।

सारिपुत्र बौद्ध धर्म और दर्शन के बड़े अद्भुत विद्वान थे। किन्तु केवल विद्वता ही इनकी विशेषता नहीं थी। इनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह थी कि बौद्ध संघ मे ऐसा उद्यमी, निहंकार,



विनयी और शीलवान दूसरा कोई भिक्षु नहीं था। संघ में सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करने पर भी सारिपुत्र अपने हाथों से विहार में झाड़ू लगाते थे, विहार के बर्तन साफ करते थे और जगह नहीं मिलने पर विहार के बाहर जमीन पर ही सो जाते थे। एक बार की बात है। श्रावस्ती के विहार में भिक्षुओं ने सोने के सभी स्थानों को अपना लिया। सारिपुत्र के लिए जगह बाकी नहीं बची। तब सारिपुत्र बाहर जाकर पेड़ के नीचे सो गए। जाड़े की रात थी। जोरों की ठंड पड़ रही थी। रात बीतने पर ठंड से सारिपुत्र को खाँसी आने लगी। खांसी की आवाज सुनकर भगवान बुद्ध उनके निकट आए। सारिपुत्र को ठिठुरती अवस्था में देख उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ। भगवान बुद्ध उन्हें उठाकर विहार के अन्दर ले गए। दूसरे दिन से ही भगवान ने यह नियम बना दिया कि संघ में पहले-बाद में प्रव्रज्या के अनुसार ही आसन और स्थान दिया जाएगा।

सारिपुत्र की विद्वता का पता तो इसी से चलता है कि स्वयं भगवान बुद्ध सारिपुत्र को अपने से कम ज्ञानी नहीं मानते थे। बुद्ध कहते थे कि सारिपुत्र जिस प्रदेश की ओर जाते हैं उधर मेरे जाने की आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिए जब कभी भी सारिपुत्र ने भगवान बुद्ध की सेवा में उपस्थापक (सेवक) होकर रहने के लिए कहा, बुद्ध ने हमेशा अस्वीकार कर दिया।

एक बार वैशाली नगर की चार नारियाँ शास्त्रार्थ में दिग्विजय करने निकलीं। ये सब जैन धर्म को मानने वाली थीं। उनकी प्रतिज्ञा थी कि जो हमें परास्त कर देगा उसी से हमारा विवाह होगा और यदि कोई सन्यासी परास्त कर देगा

क्रम उसकी शिष्या हो जाएंगी। इधर-उधर दिग्विजय करती हुई वे चारों श्रावस्ती पहुँचीं। श्रावस्ती के विहार में उस समय सारिपुत्र रहते थे। सारिपुत्र ने उनकी चुनौती को स्वीकार किया। उनकी विद्वता के विषय में तो कुछ कहने की जरूरत ही नहीं है। जिसके ज्ञान की कद्र स्वयं बुद्ध करते थे वह कोई साधारण व्यक्ति थोड़े ही होगा। सारिपुत्र ने बात की बात में चारों स्त्रियों को परास्त कर दिया। वे चारों उसी समय उनकी शिष्या बनने को तैयार हो गईं।

सारिपुत्र के ज्ञान और साधु-चरित के कारण ही भगवान बुद्ध ने अपने पुत्र राहुल को दीक्षा देने की जिम्मेदारी सारिपुत्र को दी थी। सारिपुत्र की देख-रेख में ही राहुल का अध्ययन हुआ था। सारिपुत्र जैसा प्रतिभाशाली भिक्षु उस समय बौद्ध संघ में एक भी नहीं था। देवदत्त ने जब भिक्षु संघ में फूट डालकर पांच सौ भिक्षुओं को अपनी ओर कर लिया था तब बुद्ध बहुत चिंतित हुए थे। देवदत्त के विद्रोह को दबाने केलिए उन्हें दो ही आदमी जंचे थे—सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन। भगवान बुद्ध ने उन दोनों को इस कार्य के लिए 'गयासीस' पर्वत पर भेजा। दोनों ने अपनी विद्वता और ज्ञान के बल से उन पांच सौ भिक्षुओं को देवदत्त के सामने ही भगवान बुद्ध के पक्ष में कर लिया। उस समय देवदत्त ने बौद्ध संघ में जो भारी खाई पैदा कर दी थी उसे महामौद्गल्यायन के साथ मिलकर सारिपुत्र ने पाट दिया।

एक बार की और घटना है। भगवान बुद्ध मल्लों की राजधानी 'पावा' नगर में रह रहे थे। उस समय संघ में भारी फूट का लक्षण दिखलाई पड़ा। भगवान बुद्ध ने संघ को फूट से बचाने

के लिए 'सारिपुत्र' को ही योग्यतम व्यक्ति माना और उनसे संघ के सामने उपदेश देने को कहा। सारिपुत्र की वाणी ने जादू का सा काम किया और संघ फूट से बच गया। इस अवसर पर सारिपुत्र ने जो कुछ कहा उसके ऊपर एक पूरा सुत्त ही तैयार हो गया। बाद में भी बौद्ध संघ में जब-जब फूट के लक्षण दिखाई दिए तब-तब इस सुत्त की मदद से फूट को रोका जा सका।

इतने ज्ञानी और विद्वान होने के उपरान्त भी सारिपुत्र में जरा भी अहं नाम की चीज नहीं थी। उनका हृदय बड़ा उदार था। सारिपुत्र, अश्वजित को बहुत सम्मान देते थे क्योंकि सबसे पहले अश्वजित ने ही राजगृह में भगवान बुद्ध और उनके धर्म के बारे में बताया था। भिक्षु अश्वजीत जिस दिशा में होते सारिपुत्र उस ;दिशा को प्रणाम करते और पैर करके नहीं सोते थे।

संघ में किसी से भी सारिपुत्र का द्वेष नहीं था। देवदत्त जैसे विरोधी व्यक्ति के गुणों की भी वे प्रशंसा करते थे। वे कृतज्ञ तो इतनेथे कि कभी किसी के द्वारा किए गए छोटे से उपकार को भी नही भूलते थ। सारे भिक्षुओं द्वारा विरोध किए जाने पर भी उन्होंने राध नामक एक ब्राह्मण को भगवान बुद्ध से कहकर दीक्षा दिलवाई क्योकि राध ने एक बार सारिपुत्र को एक कलछी भात खिलवाया था।

44 वर्षों तक बौद्ध धर्म और संघ की सेवा करने के बाद सारिपुत्र का परिनिर्वाण हुआ। कहते हैं कि इनकी माता की आयु

बड़ी लम्बी थी। सारिपुत्र ने अपनी जन्म भूमि नालक गाँव में अपनी माता की गोद में ही परिनिर्वाण प्राप्त किया था। भगवान गौतम बुद्ध ने उनकी अस्थियों पर श्रावस्ती में एक चैत्य बनवाया था।

महामौद्गल्यायन

भगवान गौतम बुद्ध के जीवन काल में बौद्ध संघ में सारिपुत्र के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण स्थानमहामौद्गल्यायन का था, सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन को बौद्ध धर्म के दो बृहस्पति कहा जाता है। सारिपुत्र यदि बौद्ध धर्म के महाप्रज्ञों में सर्वश्रेष्ठ थे तो महामौद्गल्यायन ऋद्धिमानों में सर्वश्रेष्ठ थे। सारिपुत्र के बाद ये गौतम बुद्ध के सबसे प्रिय शिष्य थे। सारिपुत्र के परिचय में हम यह बता चुके हैं कि सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन बड़े घनिष्ट मित्र थे। ये बचपन से ही एक दूसरे के मित्र और सह-पाठी रहे। ये आपस में इतने घनिष्ट थे कि स्वयं भगवान बुद्ध भी इनके नाम का द्वन्द्व समास (अर्थात 'सारिपुत्र-मौद्गल्यायन') के साथ स्मरण करते थे, और कहीं भी काम के लिए दोनों को साथ ही साथ भेजते थे। ये दोनों भगवान बुद्ध की धर्मरूपी गाड़ी के दो पहिए थे।

महामौद्गल्यायन का जन्म पटना जिले में नालन्दा के समीप 'कोलित' नामक गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये बचपन से ही बड़े तीव्र बुद्धि के थे। एक बार ये सारिपुत्र के साथ

पड़ोस के एक गाँव में नाटक देखने गए। कहा जाता है कि दोनों बालकों पर उस नाटक का इतना प्रभाव पड़ा कि दोनों संन्यासी हो गए और राजगृह में जाकर संजय नामक दार्शनिक के आश्रम में अध्ययन करने लगे। यहाँ रहकर इन्होंने मीमांसा-शास्त्र का गम्भीर अध्यय किया, तथा ब्राह्मण धर्म और ग्रन्थों के बड़े दिग्गज विद्वान हो गए। लेकिन बाद में भगवान बुद्ध से प्रभावित होकर ये भी सारिपुत्र के साथ बौद्ध सघ में सम्मिलित हो गए। जब इनके साथ-साथ संजय के 250 शिष्य भी जाकर प्रव्रजित हो गए, तब राजगृह में कुहराम मच गया था। इनके प्रभाव से अनेक लोग बौद्ध संघ में प्रव्रजित होने लगे थे। ये इतने मेघावी थे कि केवल सात दिन में ही इन्होंने 'अर्हत' पद प्राप्त कर लिया था, जबकि इनके मित्र सारिपुत्र को अर्हत पद पाने में इक्कीस दिन का समय लगा था। बौद्ध संघ में सारिपुत्र के बाद इनका ही स्थान था। सारिपुत्र ने राहुल को बौद्ध संघ में प्रव्रजित किया था तो राहुल के केश काटकर कापायवस्त्र देने और बुद्ध की शरण में प्रतिष्ठित करने का काम महामौद्गल्यायन ने ही किया था। इन्होंने भी अपने मित्र सारिपुत्र के साथ 44 वर्षों तक बौद्ध धर्म और संघ को सेवा की थी। महामौद्गल्यायन ने बोध गया से लाकर बोधिवृक्ष (पीपल का वह वृक्ष जिसके नीचे बैठकर भगवान बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया था) का बीज श्रावस्ती में लगाया था।

कहा जाता है कि सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन का जन्म एक ही दिन हुआ था, किन्तु महामौद्गल्यायन की मृत्यु सारिपुत्र की मृत्यु के पन्द्रह दिन बाद हुई। महामौद्गल्यायन की मृत्यु जिस



तरह हुई, वह इतिहास में एक अत्यन्त दर्दनाक घटना है। सारिपुत्र की मृत्यु के ठीक पन्द्रह दिन बाद अंधेरी रात में कुछ धर्म-द्रोही लोगों ने महामौद्गल्यायन की सूनी कुटी को घेरकर लाठियों के प्रहार से उनके मस्तक को चूर-चूर करके शव को एक झाड़ी में फेंक दिया था। भगवान बुद्ध के मन में महामौद्गल्यायन के प्रति कितना सम्मान था यह तो इसी से पता चलता है कि उन्होंने महामौद्गल्यायन के सम्मान में उनकी धातुओं (अस्थियों) पर राजगृह में एक चैत्य बनवाया था।

महामौद्गल्यायन परम निर्वाण प्राप्त, रागरहित और विमल चित्त वाले भिक्षु थे। एक बार मौद्गल्यायन वैशाली में भिक्षाटन करते घूम रहे थे। एक गली में विमला नामक रूपसी युवती रहती थी। मौद्गल्यायन की परम शान्त-सौम्य आकृति पर वह मुग्ध हो गई। उसे अपनी जवानी और रूप पर बड़ा अभिमान था। किसी को भी फँसा लेना उसका बाँए हाथ का खेल था। महामौद्गल्यायन जब 'चारिका' से अपनी कुटिया में लौटे तो वहाँ पूरी तरह सजी-धजी विमला उपस्थित थी। उसने अपनी मीठी-मीठी बातों तथा अनेक मनमोहक हाव-भावों के द्वारा मौद्गल्यायन को जाल में फंसाना चाहा। महामौद्गल्यायन ने विमला को इस कुत्सित व्यवहार के लिए इतना धिक्कारा कि उसका रूप और यौवन का सारा घमण्ड चूर-चूर हो गया। वह ग्लानि और लज्जा के मारे पानी-पानी हो गई। उसने वहीं पर सन्यास लेने का निश्चय किया, पर उस समय उस पर विश्वास कौन करता। संघ से अलग रहकर वह अकेले ही धर्म-साधना में लग गई। बाद में उसे संघ में शामिल कर लिया गया।

'सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन' अपने इन दो शिष्य-रत्नों

की मृत्यु से भगवान बुद्ध बहुत पीड़ित हुए थे, और इनकी मृत्यु के बाद छ: मास के भीतर ही भगवान बुद्ध का भी परिनिर्वाण हो गया था। इनकी मृत्यु के बाद उक्काचेल (सोनपुर, बिहार में) की परिषद में भगवान बुद्ध ने मौद्गल्यायन की मृत्यु पर दुःख प्रकट करते हुए कहा था, "भिक्षुओं, सारिपुत्र-मौद्गल्यायन के बिना यह परिषद सूनी लगती है।"

सारिपुत्र-महामौद्गल्यायन का बौद्ध संघ में बड़ा सम्मान था। भगवान बुद्ध दोनों का न केवल सम्मान करते थे बल्कि दोनो पर अत्यन्त विश्वास भी करते थे। एक बार श्रावस्ती के 'जेतवनाराम' में एक भिक्षु उनसे मिलने आया। उसने बुद्ध से कहा, 'भगवान, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन पापेच्छुक हैं।' सुनते ही बुद्ध को जैसे काठ मार गया। उन्होंने कहा, 'कोकालिय, (यह उस भिक्षु का नाम था।) ऐसा मत कहो, ऐसा मत कहो। सारिपुत्र-मौद्गल्यायन के प्रति श्रद्धा रखो, वे बड़े ही उदार हैं।' किन्तु कोकालिय ने फिर ऐसा ही कहा। इस तरह बुद्ध ने उसे तीन बार समझाया, पर बुद्ध की बातों पर उसने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। वह हर बार सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को पापेच्छुक कहता रहा। कहा जाता है कि अन्त में फल यह हुआ कि कोकालिय के सारे शरीर में कुष्ठ फूट गया और वह सड़-सड़कर मर गया।

सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के संबंध में एक बार भगवान बुद्ध ने कहा था, 'भिक्षुओं! सारिपुत्र-मौद्गल्यायन की सेवा करो। उनके समीप जाओ। भिक्षुओ! सारिपुत्र और मौद्गल्यायन पंडित हैं, सब ब्रह्मचारियों के अनुग्राहक है। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन, आर्य सत्यों का विस्तारपूर्वक व्याख्यान कर

सकते हैं, प्रकाशन कर सकते हैं। भिक्षुओं! सारिपुत्र जन्मदाता की तरह हैं और जन्म लिए हुए को पालने-पोसने वाले की तरह मौद्गल्यायन हैं।'

नि सन्देह महामौद्गल्यायन बौद्ध धर्म के एक आधार स्तम्भ थे। बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा के कारण वह भगवान बुद्ध के शिष्यरत्नों में से एक तथा अति सम्मानित भिक्षु थे।

महाकाश्यप

भगवान बुद्ध के जीवन काल में बौद्ध संघ में एक और प्रसिद्ध भिक्षु हुए। इनका नाम महाकाश्यप था। महाकाश्यप का जन्म पटना जिले के 'महातीर्थ' नामक ग्राम में कपिल ब्राह्मण के घर में हुआ था। इनका घर का नाम 'पिप्पली माणवक' था। महाकाश्यप इनका बौद्ध नाम था। ये ब्रह्म विद्या और ब्राह्मण शास्त्रों के बड़े भारी विद्वान थे। गृहस्थ कर्म में बचपन से ही इनकी कोई अभिरुचि नहीं थी। ये अपना विवाह कराने के विरुद्ध थे, किन्तु माता-पिता की जिद्द के आगे उनको झुकना पड़ा।

कहते हैं कि महाकाश्यप के माता-पिता ने वधू के चुनाव के लिए सोने की एक बहुत सुन्दर प्रतिमा बनवाई और उतनी ही सुन्दर बहू ढूँढकर लाने के लिए ब्राह्मणों को भेजा। ब्राह्मण उस मूर्ति को लेकर घूमते-घूमते साकल पहुँचे। 'साकल' भद्र देश की राजधानी थी। सागल नगर के एक कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण की कन्या 'भद्रा कपिलायनी' अत्यन्त सुन्दरी रमणी थी। भद्रा के शरीर का गठन उस मूर्ति जैसा ही था।

बीस वर्ष की आयु में महाकाश्यप का विवाह भद्रा कपिलायनी के साथ सम्पन्न हुआ। भद्रा कपिलायनी के पिता बड़े धन-

वान आदमी थे। उसके पिता ने दहेज में 55 वैलगाड़ियों पर लादकर दहेज दिया था। महाकाश्यप खुद भी वहुत धनवान थे। इनके शरीर पर स्नान के समय जो उबटन मले जाते थे उनके धोने पर उसकी गन्द से बाहर की नालियाँ भर जाती थीं। उनके खजाने में 60 वड़े-वड़े चौबच्चे थे। इनके खेत 12 योजन में थे और इनकी जमीदारी में लंका के अनुराधापुर जैसे 14 वड़े-वड़े गाँव भी थे। इनके द्वार पर हाथी-घोड़े और रथों के झुण्ड खड़े रहते थे। [इतने वैभव-विलास में पलकर भी महाकाश्यप विवाह के बाद कभी अपनी पत्नी के साथ-वासना की लालसा से नहीं सोए।

जैसा कि ऊपर वताया जा चुका है महाकाश्यप पहले ब्राह्मण धर्म के मानने वाले थे। लेकिन वाद में भगवान बुद्ध से प्रभावित होकर ये वौद्ध संघ में प्रव्रजित हो गए थे। जब ये प्रव्रजित होने के लिऐ घर से निकले तव भगवान बुद्ध राजगृह में ही थे राजगृह और नालन्दा के बीच 'बहुपुत्रक' (पटना जिले का 'सिलाव' नामक ग्राम) वटवृक्ष के नीचे इन्होंने बुद्ध से प्रव्रज्या ली और ये बौद्ध संघ में शामिल हो गए। दीक्षा के बाद भगवान बुद्ध ने महाकाश्यप के शरीर की रेशमी चादर स्वयं ले ली और अपना परम पवित्र चीवर महाकाश्यप के ऊपर डाल दिया। बुद्ध की ओर से इतना वड़ा सम्मान कभी किसी भिक्षु को नहीं मिला। यही कारण था कि महामौद्गल्यायन की तरह महाकाश्यप भी सात दिन में ही अर्हत हो गए थे। सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन के वाद बौद्ध संघ में इन्हीं का स्थान था।

महाकाश्यप की पत्नी भद्रा कपिलायनी भी अपने पति के साथ ही संघ में शामिल होने के लिए आयी लेकिन उस समय

तक स्त्रियों का संघ में प्रवेश वर्जित था। इसलिए उसे संघ में शामिल नहीं किया गया। किन्तु बाद में जब 'महाप्रजापति गौतमी' को 500 स्त्रियों के साथ संघ में प्रवेश करने की अनुमति मिल गई तब भद्रा कपिलायनी भी संघ में सम्मिलित हो गई। महाकाश्यप की तरह इन्होंने भी 'अर्हत' पद प्राप्त किया। 'भद्रा' इतनी पति परायणी थी कि अर्हत पद पा लेने पर भी महाकाश्यप के गुणों का ही सदा गान करती रहती थी।

महाकाश्यप इतने बड़े विद्वान थे कि इन्होंने 'आनन्द' जैसे विद्वान को 'विनय' का उपदेश दिया था। आनन्द इनको अपना गुरू मानते थे और इसलिए कभी उनका नाम लेकर नहीं पुकारते थे। बौद्ध संघ में इनका कितना बड़ा सम्मान था यह इसी से पता चलता है कि भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के सात दिन बीत गए लेकिन उनके शव का अन्तिम संस्कार तब तक नहीं हुआ जब तब कि महाकाश्यप ने वहाँ पहुँचकर उनके दर्शन नहीं कर लिए।

नियम-पालन के मामले में ये बड़े कठोर थे। प्रथम संगीति के अवसर पर इन्होंने अद्वितीय विद्वान आनन्द को भी अर्हत पद प्राप्त किए बिना बैठने नहीं दिया।

महाकाश्यप महान ज्ञानी, उच्च कोटि के प्रज्ञावान तथा अत्यन्त सम्मानित भिक्षु थे। इनके प्रभाव के कारण ही बुद्ध का विरोधी सम्राट 'अजात शत्रु' भी बौद्ध बन गया था और उसने बुद्ध की धातुओं (अस्थियों) पर चैत्य बनवाया था। भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के थोड़े दिन बाद ही महाकाश्यप ने राजगृह में 500 भिक्षुओं की एक सभा कराई, जो इतिहास में प्रथम

संगीति के नाम से प्रसिद्ध है। यह संगीत सात महीनों तक चली। संगीति में आए हुए भिक्षुओं के भोजन और आवास का प्रबंध अजात-शत्रु ने किया था। यह कार्य उसने महाकाश्यप के प्रभाव से ही कराया था। इस संगीति के धर्माचार्य--महा-काश्यप ही थे। इस संगीति में बौद्ध धर्म की व्यवस्थित और स्थायी नींव डाली गई। भगवान बुद्ध ने एक बार खुद कहा था कि मेरा धर्म 500 वर्षों से ज्यादा नहीं चलेगा लेकिन महा-काश्यप ने इस संगीति के द्वारा बौद्ध धर्म को पाँच हजार वर्षों के लिए स्थिर कर दिया। महाकाश्यप कितने प्रभावशाली भिक्षु थे यह इसी से स्पष्ट है कि बाद में इनके नाम पर बौद्ध संघ में *'महाकाश्यपीय'* नाम का एक नया सम्प्रदाय ही बन गया था। वास्तव में यह स्थविरवाद है जो बौद्ध धर्म के अनेक सम्प्र-दायों सबसे प्राचीन है।

भगवान बुद्ध, सारिपुत्र और महामोद्गल्यायन के परिनिर्वाण के बाद भी अपनी बुद्धि और कौशल से इन्होंने बौद्ध धर्म की पताका को झुकने नहीं दिया। बल्कि उसे और ऊँचा उठाया। भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद बौद्ध संघ में विस्फोट होने ही वाला था लेकिन महाकाश्यप ने अपने प्रताप से उसे जहाँ का तहाँ ठण्डा कर दिया। आज संसार में जो बुद्ध धर्म उपलब्ध है, उसके लिए महाकश्यप ने जो कार्य किया, उसके लिए बौद्ध जगत उनका सदैव ऋणी रहेगा।

जीवक

बौद्ध काल की महान विभूतियों में जीवक का अपना विशेष स्थान है। वह उस युग का बड़ा महान रासायनिक और शल्य-चिकित्सक (सर्जन) था। इसके अलावा वह भगवान गौतम बुद्ध का महान भक्त और दानी था।

जीवक का जन्म राजगृह की प्रधान गणिका 'सालवती' के गर्भ से हुआ था। सालवती, वैशाली की प्रसिद्ध गणिका 'आम्बपाली' की तरह ही राजगृह की प्रधान गणिका थी। वह नृत्य, संगीत, वाद्य आदि कलाओं तथा रूप-सौन्दर्य में अपूर्व थी। कहते है कि आम्बपाली का शुल्क पचास सुवर्ण मुद्रा था, जबकि 'सालवती' का शुल्क एक सौ सुवर्ण मुद्रा था। कुछ लोगों का कहना है कि 'जीवक' महाराज बिम्बिसार का गर्भ था। जो भी हो, अपनी गणिका-वृत्ति कायम रखने के लिए सालवती ने अपने पुत्र को दासी के द्वारा बाहर के घूरे (सम्भवतः कूड़े का ढेर) पर फेंकवा दिया।

घूरे पर पड़े इस शिशु को बिम्बिसार का मंत्री अभय कुमार उठा कर ले गया और उसने ही इसका पालन-पोषण किया। अभय कुमार द्वारा पाले जाने के कारण इस बालक का नाम

'कौमारभृत्य' भी पड़ा। बड़ा होने पर अभय कुमार ने इस बालक को तक्षशिला विश्वविद्यालय में अध्ययन के लिए भेजा। साथ ही उसने एक परिचय पत्र भी तक्षशिला के राजा के नाम से इसे दिया। तक्षशिला के राजा 'पुष्करसारि' ने राज परिवार से आए इस अतिथि (जीवक) का बड़ा सम्मान किया तथा आयुर्वेद शास्त्र के अध्ययन की इनकी इच्छा जानकर तक्षशिला विश्वविद्यालय के प्रधानाचार्य के पास भेजा। उस समय आयुर्वेद विभाग के अध्यक्ष 'आंत्रेय' थे। अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि तथा विनयी देखकर आंत्रेय ने जीवक को अपना प्रधान शिष्य बना लिया। वे जिस रोगी को देखने या दवा देने जाते, जीवक को साथ में ले जाते थे।

जीवक ने सात वर्ष तक वैद्यक-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। वह समस्त ओषधियों के ज्ञाता हो गए। अध्ययन समाप्त करने के बाद जीवक ने राजगृह जाकर जीविका चलाने का विचार बनाया। जीवक जब रास्ते में साकेत (अयोध्या) से गुजर रहा था तो उसे पता चला कि वहाँ के सेठ की पत्नी के सिर में सात वर्ष से दर्द था। अनेक वैद्यों ने उसका इलाज किया था, किन्तु उसका दर्द ठीक नहीं हो सका था। जीवक ने उस सेठानी को ठीक कर दिया। वहाँ से उसे सोलह हजार कर्षापण तथा एक दास, एक दासी और एक अश्व-रथ मिला। जीवक वहाँ से सीधा राजगृह आया और अपनी सारी कमाई अपने अभिभावक 'अभयकुमार' को सौंप दी। इन सोलह हजार कर्षापण से 'अभयकुमार' ने जीवक के निवास के लिए एक महल बनवाया।

एक वैद्य के रूप में जीवक की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई



थी। 'बिम्बिसार' के पुराने रोग 'भगन्दर' को जीवक ने एक ही लेप से सही कर दिया। कहते हैं कि बिम्बिसार ने प्रसन्न होकर पाँच सौ स्त्रियों को आभूषण से सजवाया और फिर उन समस्त आभूषणों को उतरवाकर पारितोषिक के रूप में जीवक को दे दिया, लेकिन उन्होंने एक भी आभूषण नहीं लिया। बिम्बिसार तब और भी प्रसन्न हुआ और उसने जीवक को अपने राजवैद्य के पद पर प्रतिष्ठित किया।

राजगृह के श्रेष्ठी (सेठ) के सिर में भी सात वर्ष से पीड़ा रहती थी, और बड़े-बड़े वैद्य उसका इलाज नहीं कर सके थे। जीवक ने रोग को तुरन्त पकड़ लिया। उसने सेठ की खोपड़ी को चीरा और उसके अन्दर से दो कीड़े निकाले। बाद में खोपड़ी की सिलाई कर, उस पर दवा का लेप कर दिया। इक्कीस दिन में ही सेठ स्वस्थ हो गया। उसने पारितोषिक (इनाम) के रूप में जीवक को एक लाख मुद्रायें दीं।

जीवक की ख्याति इतनी फैल गई थी कि दूर-दूर से लोग उनके पास इलाज के लिए आते थे। वाराणसी के सेठ के पेट में बीमारी थी। जीवक ने उसके पेट का भी आप्रेशन किया और उसकी आँत में पड़ गई गाँठ को निकाला। बाद में उसके पेट की खाल को सिलकर उस पर दवा लगा दी। उस सेठ ने भी जीवक को सोलह अशर्फियाँ दीं।

'अवन्ती' के राजा 'चण्डप्रद्योत' के 'पांडुरोग' का इलाज भी जीवक ने किया था। प्रसन्न होकर चण्डप्रद्योत ने उपहार के रूप में सर्वश्रेष्ठ एक जोड़ा दुशाला जीवक के पास भिजवाया। लेकिन जीवक भगवान बुद्ध का बड़ा भक्त था। उसने वह दुशाला भगवान बुद्ध को अर्पित कर दिया। वाराणसी के सेठ ने भी

हजारों कम्बल जीवक के लिए भेजे थे, जिन्हें जीवक ने बौद्ध संघ को दान में दे दिया।

राजगृह में अपना बीसवाँ वर्षावास करते समय भगवान गौतम बुद्ध के पेट में जब पेचिस हुई तो उसका इलाज जीवक ने ही किया था। देवदत्त द्वारा पत्थर की शिला गिराए जाने से भगवान बुद्ध के पैर में लगी चोट को भी जीवक ने ही ठीक किया था।

धन्वन्तरि को आयुर्वेद का जनक माना जाता है, लेकिन जीवक इतना प्रसिद्ध और महान वैद्य था कि उसे अपने जमाने का 'धन्वन्तरि' कहा जाता था। भगवान बुद्ध और उनके धर्म में उसकी भक्ति अतुलनीय थी। भिक्षु संघ के निवास के लिए उसने अपनी 'आम्रवाटिका' संघ को दान में दे दी थी। भगवान बुद्ध उसको बहुत मानते थे। जीवक के अनुरोध पर ही बुद्ध ने भिक्षुओं को गृहपति-चीवर धारण करने की आज्ञा दी थी। बौद्ध धर्म के इतिहास में यह गौरव की बात है कि इतना महत्त्व पूर्ण व्यक्ति बौद्ध धर्म में दीक्षित था, जिसने बौद्ध धर्म के हित में कई बातों के लिए बुद्ध को प्रेरित किया था।

विशाखा

विशाखा का जन्म भद्दिय नगर (आधुनिक बिहार में भागलपुर के पास भदरिया नामक स्थान) में हुआ था। ये नगर के सेठ 'मेण्डक' की पौत्री थी। बिम्बिसार के राज्य में उस समय पाँच बड़े सेठ थे, मेण्डक उनमें से एक था। इनके पिता का नाम 'धनंजय' तथा माता का नाम 'सुमना' था। विशाखा बड़ी सुन्दर और सुशील थी। उसका लालन-पालन बड़े ही वैभव के साथ हुआ। जिस समय भगवान बुद्ध भद्दिय नगर में पधारे विशाखा की उम्र केवल सात वर्ष थी। उसके दादा 'मेण्डक' ने भगवान बुद्ध और उनके भिक्षु संघ का बड़ा आदर-सत्कार किया। मेण्डक ने अपनी पोती विशाखा को 500 कन्याओं और 500 दासियों के साथ भगवान बुद्ध के सत्कार के लिए भेजा। भद्दिय में भगवान बुद्ध जब तक रहे तब तक उनके भिक्षु संघ का सारा खर्च मेण्डक ने ही उठाया। मेण्डक, भगवान बुद्ध का बड़ा भक्त था। भगवान बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर उसका सारा परिवार बौद्ध बन गया। अपने दादा मेण्डक के साथ विशाखा भी बुद्ध उपासिका बन गई।

बारह वर्ष की अवस्था में विशाखा अपने पिता के साथ

'भद्दिय नगर' छोड़कर साकेत में जाकर वस गई। कहते हैं कि कौशल नरेश प्रसेनजित ने मगधराज बिम्बिसार से अपने राज्य में बसने के लिए एक महासेठ की माँग की थी, जिसके अनुसार सोच-विचारकर बिम्बिसार ने मेण्डक के पुत्र धनंजय को भेजा था।

युवावस्था में श्रावस्ती नगर के सेठ 'मिगार' के पुत्र पुण्यवर्द्धन के साथ विशाखा का विवाह सम्पन्न हुआ। इसके विवाह में कौशल नरेश प्रसनेजित स्वयं सम्मिलित हुआ था। कहते हैं कि नौ करोड़ मूल्य के आभूषणों से विशाखा को सजाया गया था। दहेज में 54 सौ बैलगाड़ियों पर लादकर धन दिया गया था। इसके अलावा पाँच सौ दासियाँ, पांच सौ रथ तथा अन्य ढेर सारा सामान दिया गया था।

विशाखा को 'मिगारमाता' भी कहा जाता है कहते हैं कि उसका ससुर 'मिगार' जैन धर्म को मानने वाला था और महावीर का पूर्ण भक्त था, जबकि विशाखा बुद्ध उपासिका थी। विशाखा बहुत बड़ी दानी थी। वह रोज पाँच सौ बौद्ध भिक्षुओं को भोजन कराकर तब भोजन करती थी, विशाखा और उसका ससुर दोनों ही एक-दूसरे को अपने-अपने धर्म का अनुयायी बनाना चाहते थे। दोनों ने ही अपनी-अपनी ओर से प्रयास किए, लेकिन अन्त में विशाखा की जीत हुई। अपनी सेवा सुशीलता, धर्मनिष्ठा, गुणों तथा तर्कों से उसने अपने ससुर की निष्ठा बौद्ध धर्म में स्थापित कर दी, और धर्म-भावना में उससे श्रेष्ठ सिद्ध हुई। इसलिए बौद्धों ने उसका नाम ही 'मिगारमाता' रख दिया और विशाखा को 'मिगरमाता विशाखा' कहा जाने लगा।

विशाखा ने बौद्ध संघ के निवास के लिए श्रावस्ती में



'पूर्वाराम' नाम का एक विहार बनवाया था। यह विहार दो मंजिला था और नौ मास में बनकर तैयार हुआ था। इस विहार के निर्माण में उनत्तीस करोड़ मुद्रायें खर्च हुई थीं। इस विहार के निर्माण के संबंध में एक कथा है। कथा के अनुसार एक दिन विशाखा भगवान बुद्ध का उपदेश सुनने गई। विहार के द्वार पर ही विशाखा ने अपने आभूषण उतार दिए क्योंकि विशाखा कभी भी भगवान बुद्ध के पास शृंगार करके या आभूषण आदि पहनकर नहीं जाती थी। उपदेश सुनने के बाद लौटते समय विशाखा अपने आभूषण विहार में ही भूल गई। तब विशाखा ने अपनी दासी को यह कहकर वापस भेजा कि यदि किसी भिक्षु ने उन आभूषणों को उठाकर रख दिया हो तो मत लाना। दासी जब विहार में गई और उसे पता चला कि सब के चले जाने पर आनन्द ने उन आभूषणों को उठाकर सुरक्षित रख दिया था, तो उसने यह कहते हुए आभूषण नहीं लिए कि आपने इन्हें छू दिया है, मेरी मालकिन इन्हें अब नहीं पहनेंगी। तब आनन्द ने कहा कि हम लोग भी आभूषण नहीं ले सकते, हमारे लिए इन्हें लेना वर्जित है। आनन्द की बात को जानने पर विशाखा ने उन आभूषणों को मंगा लिया। वे आभूषण नौ करोड़ मूल्य के थे और उनके बनाने पर एक लाख रुपये खर्च आए थे। कोई भी आदमी इन आभूषणों को खरीदने वाला नहीं था। विशाखा ने इतना मूल्य देकर स्वयं इन आभूषणों को खरीदा और इस धनराशि में से उसने पूर्वाराम-विहार बनवाया। कहते हैं कि इस विहार के निर्माण में 20 करोड़ रुपये लगे। इस विहार के नीचे और ऊपर के दोनों तलों में पांच-पांच सौ कमरे थे। इस विहार की बनावट की देख-

भाल स्वयं महामौद्गल्यायन ने की थी।

विशाखा के बेटे-पोते भी थे। एक सौ बीस वर्ष की अवस्था में उसका निर्वाण (अर्थात् देहान्त) हुआ था।

मोग्गलिपुत्र तिष्य

'मोग्गलिपुत्र तिष्य' का जन्म तीसरी शताब्दी ई० पूर्व में पाटलीपुत्र मेंएक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनका नाम 'तिष्य' था। 'मोग्गलि' इनके पिता अथवा माता का नाम था। बचपन से ही ये बड़े प्रतिभा-सम्पन्न थे। अठारह वर्ष की आयु में ही ये तीनों वेदों मे पारंगत हो गए थे। वेदों के अतिरिक्त इन्होंने दूसरे शास्त्रों का भी गम्भीर अध्ययन किया था। तिष्य को अपने ज्ञान पर बड़ा घमण्ड था लेकिन एक दिन ऐसी घटना घटी कि उनका सारा घमण्ड जाता रहा और ये बौद्ध हो गए।

घटना के अनुसार एक दिन तिष्य अपने गुरु के पास गए हुए थे कि उनके पीछे 'सिग्गव' नाम का एक बौद्ध भिक्षु चारिका करते हुए उनके घर आ गया। तिष्य के पिता ने जल्दी में तिष्य का आसन ही 'सिग्गव' को बैठने के लिए दे दिया। इसी बीच तिष्य लौट आए। तिष्य और सिग्गव में परस्पर वाद-संवाद हुआ। सिग्गव के ज्ञान से तिष्य बहुत प्रभावित हुआ और सिग्गव का शिष्य बनकर बौद्ध संघ में सम्मिलित हो गया। सिग्गव के अतिरिक्त सिग्गव के साथी तथा पाटलीपुत्र के प्रसिद्ध भिक्षु

ण्डवज्जि से भी तिष्य ने बौद्ध ग्रन्थों की शिक्षा ली थी। थोड़े समय में ही वह बौद्ध शास्त्रों का भी मर्मज्ञ हो गया था। सम्राट अशोक उसकी विद्वता से बहुत प्रभावित हुआ और बाद में तिष्य को अपना राजगुरु बनाया। कहते हैं कि पहले अशोक बड़ा क्रूर शासक था लेकिन बाद में तिष्य के सान्निध्य में आने पर उसने अपनी क्रूरता का परित्याग कर, कभी युद्ध न करने का प्रण कर लिया था। तिष्य के प्रभाव से अशोक की बौद्ध धर्म में ऐसी निष्ठा जगी कि वह न केवल स्वयं बौद्धधर्म में दीक्षित हुआ बल्कि अपने साथ सारे परिवार को उसने बौद्ध धर्म में दीक्षित कराके बौद्ध धर्म को राजधर्म बनाया। अशोक ने बौद्ध संघ को खुलकर दान दिया, जिसके परिणाम स्वरूप हजारों दूसरे धर्मों के लोग भी बौद्ध संघ में शामिल होने लगे। इन नकली भिक्षुओं के आ जाने से धर्म की दुर्दशा होने लगी। धर्म की यह दुर्दशा देखकर मोग्गलिपुत्र तिष्य को बहुत दुःख हुआ। उन्होंने सम्राट के दान का दुरुपयोग होते देखकर उसे दान करने से रोकना चाहा, लेकिन राजा ने दान देना नहीं रोका। अन्त में दुःखी होकर मोग्गलिपुत्र तिष्य पाटलीपुत्र छोड़कर चले गए और 'अहोगंग-पर्वत' (हरिद्वार के पास) पर जाकर रहने लगे।

कुछ दिनों के बाद पाटलीपुत्र के विहार में धर्मनिष्ठ और नकली भिक्षुओं में झगड़ा हो गया। संघ के झगड़े को शान्त करने के लिए सम्राट अशोक ने मोग्गलिपुत्र तिष्य को बुलवाया। कहते हैं कि जब अहोगंग पर्वत से गंगा के मार्ग द्वारा नाव पर तिष्य आये तब गंगा के घाट पर स्वयं सम्राट आया और उसने गर्दन-भर गहरे पानी में जाकर बड़े ही श्रद्धा और सम्मान के साथ हाथ पकड़कर मोग्गलिपुत्र को नाव से उतारा। पाटलीपुत्र



में आकर मोग्गलिपुत्र ने संघ को शुद्ध करने के लिए सम्राट से सलाह मसविरा करके 'अशोकाराम' विहार में एक बहुत बड़ी सभा की जिसे तृतीय बौद्ध संगीति कहा जाता है। इस संगीति में सम्राट स्वयं उपस्थित था। यह संगीति नौ महीनों तक चली। इतने लम्बे समय के विचार-विमर्श के बाद धर्मानुसार आचरण न करने वाले भिक्षुओं को मोग्गलिपुत्र ने सम्राट से कहकर संघ से निष्कासित करा दिया। इसी तृतीय संगीति में मोग्गलिपुत्र ने 'कथावस्तु' की रचना की। बौद्ध ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का अपना विशेष स्थान है। संगीति की समाप्ति पर मोग्गलिपुत्र ने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अनेक देशों में भिक्षुओं को भेजा।

मोग्गलिपुत्र तिष्य एक महान विद्वान, कुशल उपदेशक तथा धर्म के ज्ञाता थे। बौद्ध धर्म के हित में उन्होंने बहुत बड़ा योगदान दिया। तृतीय संगीति के आयोजन में तिष्य की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही है। लेकिन मोग्गलिपुत्र तिष्य ने बौद्ध धर्म के हित में जो सबसे बड़ा काम किया, वह था अशोक को बौद्ध बनाना। मोग्गलिपुत्र की प्रेरणा से ही अशोक ने बौद्ध तीर्थों का भ्रमण किया और अनेक बुद्ध विहार बनवाए। निःसन्देह अशोक ने बौद्ध धर्म के लिए बहुत बड़ा काम किया। लेकिन अशोक ने जो कुछ भी किया वह सब अपने गुरु मोग्गलिपुत्र तिष्य की प्रेरणा से ही किया। यदि यह कहा जाए तो [illegible]ोक्ति न होगी कि यदि अशोक को 'मोग्गलिपुत्र [illegible] न मिला होता तो वह बौद्ध धर्म के लिए इतना बड़ा काम [illegible] नहीं कर पाता।

अशोक

जब कभी भी हम भारतीय इतिहास के महान सम्राटों की तुलना करने बैठते हैं, सबसे पहले मस्तिष्क में 'अशोक' का नाम उभरता है। समस्त प्रजा को पुत्रवत प्यार करने के कारण उसका नाम 'प्रियदर्शी अशोक' पड़ गया था, और महान धार्मिक कार्य करने के कारण उसको 'धर्माशोक' कहा जाने लगा था। अशोक एक महान प्रशासक, कुशल सेनापति, प्रजा-वत्सल, दानशील तथा धार्मिक सम्राट था। सच कहा जाए तो अशोक न केवल भारतीय इतिहास में अपितु संसार के महान सम्राटों में अद्वितीय हैं।

अशोक का जन्म तीसरी शताब्दी ई० पूर्व में हुआ। वह महान सम्राट तथा मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य का पौत्र तथा बिन्दुसार का पुत्र था। अशोक की माता का नाम 'सुभद्रांगी' अथवा 'धर्मा' था। अस्त्र-शस्त्र विद्या में वह बहुत कुशल था। उसकी योग्यता तथा क्षमता को देखकर बिन्दुसार ने उसे 'उज्जैन' का शासक नियुक्त कर दिया था। किन्तु 276 ई0 पूर्व में बिन्दुसार की मृत्यु हो गई। कहा जाता है कि अशोक के 99 भाई और थे। पिता की मृत्यु के बाद अपने सभी



भाइयों को मारकर वह मगध की गद्दी पर बैठा था। हो सकता है कि उनके भाइयों की यह संख्या अतिशयक्तिपूर्ण हो, किन्तु इतना निश्चित है कि बिम्बिसार की मृत्यु के बाद राजसिंहासन के लिए अशोक को अपने भाइयों से संघर्ष करना पड़ा। राजसिंहासन के लिए अपने भाइयों में अशोक का सबसे बड़ा प्रतिद्वंदी उसका सौतेला भाई सुषीम अथवा 'सुमन' था। वह बिन्दुसार का सबसे बड़ा पुत्र था, और कश्मीर का शासक था। लेकिन वह युद्ध में अशोक के द्वारा मारा गया। सुषीम का पक्ष लेने वाले उसके अन्य भाई भी युद्ध में मारे गए। इस तरह चार वर्षों तक संघर्ष से जूझने के बाद 272 ई० पूर्व में अशोक मगध की गद्दी पर बैठा। उसकी राजधानी पाटलीपुत्र थी।

जिस समय अशोक गद्दी पर बैठा उसका साम्राज्य बहुत सुदृढ़ और विस्तृत था। किन्तु बंगाल के पास 'कलिंग' नाम का एक स्वतंत्र राज्य था। मौर्य साम्राज्य को कलिंग से खतरा बना रहता था। कलिंग को अपने अधीन करने के लिए अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई कर दी। कलिंग के राजा के साथ उसका घमासान युद्ध हुआ। भारी नर-संहार के बाद अन्त में अशोक की विजय हुई। कहते हैं इस युद्ध में एक लाख से भी ज्यादा लोग मारे गए थे। लगभग इतने ही कलिंगवासी घायल होकर पंगु बन गए और उनका जीवन नष्ट हो गया। यद्यपि इस युद्ध में अशोक की विजय हुई किन्तु इस भीषण नर-संहार से उसका हृदय दहल उठा। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि फिर कभी युद्ध नहीं करूंगा। उसके हृदय में जीवों के प्रति करुणा जागृत हुई। वह बौद्ध धर्म के 'अहिंसा और करुणा' के मूल मंत्र से प्रभावित हुआ और 'मोग्गलिपुत्र' से

प्रव्रज्या लेकर बौद्ध बन गया।

कहा जाता है कि प्रारम्भ में अशोक बड़ा चण्ड और क्रूर था। किन्तु बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात् उसने हिंसा को त्याग दिया और वह जीवों से प्रेम करने वाला, शील और सद्धर्म पर चलने वाला तथा मनुष्यों और देवताओं का प्रिय बन गया था। धर्मानुसार आचरण करने के कारण वह धर्म सम्राट कहा जाने लगा था। अशोक के मन में बौद्ध धर्म के प्रति ऐसी निष्ठा जगी कि अपने साथ-साथ सारे परिवार को उसने बौद्ध धर्म में प्रव्रजित कराके उसने बौद्ध धर्म को राजधर्म बनाया। इसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि अशोक के राज्य की अधिकांश जनता बौद्ध हो गई।

अशोक बड़ा दानशील था। बौद्ध धर्म के विकास के लिए उसने खुलकर दान दिया। भगवान बुद्ध के समय में 'अनाथ पिण्डक' बड़े भारी दानी सेठ हुए, लेकिन दान देने में और भिक्षुओं को भोजन कराने में अशोक इतना उदार था कि 'अनाथपिण्डक' की तरह दानी कहा जाने लगा। उसने अनेक बुद्ध विहार बनवाए तथा बौद्ध भिक्षुओं के लिए भोजन और चीवर की भरपूर व्यवस्था की। कहा जाता है कि अशोक ने बुद्ध की मूर्ति भी बनवाई थी। अपने गुरु 'मोग्गलिपुत्र तिष्य' की प्रेरणा से अशोक ने बौद्ध तीर्थों का भ्रमण किया और सब जगह उसने स्तम्भ गड़वाकर उनपर लेख खुदवाए थे।

अशोक से पूर्व समय में बौद्ध धर्म केवल भारतवर्ष के अन्दर तक ही सीमित था। अशोक ने पहली बार बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए भारत से बाहर के देशों में भिक्षु भेजे। यहाँ तक कि अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को धर्म के प्रचार-प्रसार के

लिए सिंहल (श्रीलंका) भेजा। इस तरह अशोक ने बौद्ध धर्म को अन्तर्राष्ट्रीय धर्म बनाया और भारत में राष्ट्रधर्म बनाकर संसार में गौरव-शिखर पर प्रतिष्ठित किया।

अपने राज्य के अन्तर्गत सभी प्रदेशों में अशोक ने एक से अधिक बौद्ध विहार बनवाए, धर्म-लेख खुदवाए, स्तम्भ गड़वाए और धर्म प्रचार के लिए विद्वानों को नियुक्त किया। बौद्ध संघ में आयी विकृति को दूर करने के लिए तथा सद्धर्म की स्थापना के लिए अपने गुरु मोग्गलिपुत्र तिष्य की सलाह पर अशोक ने तीसरी बौद्ध संगीति आयोजित की। इस संगीति की अध्यक्षता मोग्गलिपुत्र तिष्य ने की। इस संगीति में अशोक स्वयं उपस्थित था। संगीति में चुने हुए दस हजार भिक्षु सम्मिलित हुए और यह संगीति नौ महीनों तक चली थी। इस संगीति के बाद अशोक ने सद्धर्म के नियमों का पालन न करने वाले भिक्षुओं से पवित्र चीवर और पात्र उतरवाकर उन्हें संघ से निष्कासित कर दिया। अशोक ने भ्रमण शिकार और विजय-यात्रा की जगह धर्म यात्रा शुरू की।

धर्म के हित में इतना बडा काम करने वाला तथा प्रजा-वत्सल सम्राट इतिहास में दूसरा नहीं मिलता। उसने सारे भारतवर्ष में तथा पड़ोसी देशों में भी औषधालय खुलवाए, प्याऊ लगवाई, सड़कों के किनारे छायादार और फलदार वृक्ष लगवाए और यात्रियों के लिए विश्राम गृह बनवाए। अशोक का हृदय केवल मनुष्य जाति के प्रति ही द्रवित नहीं था बल्कि उसने पशुओं और पक्षियों पर भी दया करके उनके लिए भी चिकित्सा-लय खुलवाए थे। भगवान बुद्ध की तरह ही अशोक का हृदय भी करुणा का महा समुद्र था। उसकी उत्कट लालसा थी कि

'मैं जीवों का उद्धार करूंगा और भगवान बुद्ध के अधूरे कार्य को पूरा करूंगा।

प्रजा की सेवा के लिए वह हमेशा तत्पर रहता था। अशोक का कहना था कि 'मैं खाता होऊँ, अंतःपुर में होऊँ या शयनागार में—प्रजा का कुछ भी काम हो मुझे तुरत सूचित करें। मैं हर समय प्रजा का कार्य करूंगा'''मैं कितना ही उद्योग करूँ, कार्य में लगा रहूँ, मुझे सन्तोष नहीं मिलता। सब प्राणियों का हित करना ही मैंने अपना कर्त्तव्य माना है। लोगों के लिए कार्य करने के अतिरिक्त मेरा अपना कोई काम नहीं है। केवल इतना ही नहीं कि वह प्रजा के हित में रात-दिन लगा रहता था बल्कि अशोक चाहता था कि वह जो भी कार्य करे वह बहुजन के हित में और बहुजन के सुख में हो। इसके लिए उसने प्रजा के बीच घोषणा कर दी थी कि 'मैं जो कुछ आज्ञा जबानी दूं या अमात्यों को कोई कार्य सौंपूं उसके सम्बन्ध में किसी को कोई भी ऐतराज या तकलीफ हो तो मुझे सूचित किया जाए।

अशोक ने अहिंसा, मैत्री तथा सेवा का जो मार्ग प्रशस्त किया बाद में अनेक राजाओं ने उसका अनुसरण किया। इतना बड़ा धर्म प्रचारक और प्रजावत्सल सम्राट इतिहास में ढूंढने पर भी नहीं मिलता। अशोक ने बौद्ध धर्म को एक नया आधार दिया। आज बौद्ध धर्म पूरी दुनिया में फैला हुआ है, इसका बहुत बड़ा श्रेय अशोक को जाता है। अशोक के विषय में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता कि यदि बौद्ध धर्म को अशोक जैसा सम्राट न मिला होता तो उसे संसार में इतना गौरव मिलता कि नहीं यह कहना कठिन है।

नागसेन

नागसेन के जीवन के बारे में भी अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। केवल मिलिन्द प्रश्न ही एक मात्र ग्रन्थ है जिससे नागसेन के जोवन-चरित के बारे में कुछ पता चलता है। वह एक महान दार्शनिक, चिन्तक और विद्वान थे। अपने ज्ञान और तर्कों के बल पर उन्होंने बौद्ध धर्म को पताका को बहुत ऊँचा किया था। मिलिन्द प्रश्न के अनुसार, 'वे संघनायक, गणनायक, गणाचार्य, ज्ञानी, यशस्वी, लोगों में सम्मानित, पण्डित, चतुर, बुद्धिमान, निपुण, विज्ञ, अनुभवी, नम्र, तेज, बहुश्रुत, तीनो पिटिकों को जानने वाले, भगवान बुद्ध के शासन की सूक्ष्म बातों को जानने वाले, पर्याप्तिधर, पारमी-प्राप्त, भगवान के धर्म के अनुकूल देशना करने में कुशल, कभी भी विफल न होने वाली विचित्र प्रत्युत्पन्न मति से युक्त थे। विचित्र वक्ता, शुभ बातों को बोलने वाले, अद्वितीय, अपराजेय, सागर के समान शान्त, हिमालय के जैसा निश्चल, अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करने वाले, ज्ञान के प्रकाश को फैलाने वाले थे। जैसे पर्वत पर केसरी, वैसे वे मनुष्यों के बीच शोभायमान होते थे।'

अपने प्रश्नों के समुचित उत्तर पाकर राजा मिलिन्द ने आनन्द से भरकर नागसेन की प्रशंसा में कहा था, 'इस बुद्ध

शासन में धर्मसेनापति सारिपुत्र के अलावा दूसरा कोई भी नहीं है जो धर्म के विषय में किए जाने वाले प्रश्नों के ऐसे उत्तर दे सके।'

नागसेन का जन्म दूसरी शताब्दी ई० पू० में हिमालय पर्वत के पास कजंगल नामक गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम सोनुत्तर था। सोनुत्तर ने बालक नागसेन को शिक्षा के लिए एक ब्राह्मण आचार्य नियुक्त किया, जिससे उन्होंने तीनों वेद तथा दूसरे शिल्प सीखे। वह इतने कुशाग्र बुद्धि के थे कि एक ही बार में उन्होंने तीनों वेदों को कण्ठस्थ कर लिया और भली-भाँति समझ भी लिया। शब्द-ज्ञान, छन्द-ज्ञान, भाषा-ज्ञान तथा इतिहास, उनसे कुछ भी बाकी नहीं बचा। वह पद, व्याकरण, तथा लोकायत शास्त्रों में पूरे पण्डित हो गए। किन्तु इस सब के उपरान्त भी उनके मन को शान्ति नहीं मिली। अपनी पढ़ी हुई विद्या पर विचार करने पर उन्हें लगा कि यह सारहीन है, बेकार है। उनका मन बौद्ध धर्म के तत्वों को जानने की ओर अग्रसर हुआ और वह भिक्षु रोहण की शरण में गए। रोहण (या लोहन) सिद्ध भिक्षु हुए हैं और इन्हें नागसेन का मामा बताया गया है। नागसेन ने रोहण के साथ रहकर धर्म का अध्ययन किया। बीस वर्ष की अवस्था में 'होसेन' नामक विहार में उनकी उपसम्पदा हुई और वह बौद्ध भिक्षु बन गये।

इसके बाद वह पैदल चलकर वत्तनीय के एक बहुत प्रसिद्ध भिक्षु अश्वगुप्त के पास पहुँचे और उनकी देख-रेख में अध्ययन किया। फिर अश्वगुप्त ने उन्हें पाटलीपुत्र भेजा जहाँ उन्होंने अशोकाराम विहार के आचार्य धर्मरक्षित के पास रहकर बौद्ध तत्व-ज्ञान और त्रिपिटिक का गूढ़ अध्ययन किया। कहा गया है

कि नागसेन ने धर्मरक्षित से बुद्ध के वचन तथा तीनों पिटिकों को तीन महीनों में ही कण्ठस्थ कर लिया, और फिर तीन महीनों में ही उनके अर्थों को भी जान लिया। धर्म के तत्वों के पूर्ण ज्ञाता होने के वाद वे सागल (या स्याल कोट) नगर पहुँचे और वहाँ पर असंख्य परिवेण में रहे। परिवेण मठ को कहते हैं, जहाँ भिक्षु लोग रहकर धर्म ग्रन्थों का पठन-पाठन करते थे।

इस तरह भिक्षु होने के सात वर्ष तक वह निरन्तर अध्ययन करते, ज्ञान प्राप्त करते यहाँ से वहाँ घूमते रहे। सात वर्ष के बाद उन्होंने सागल नगर (वर्तमान स्याल कोट, जो अब पाकिस्तान के पंजाब प्रान्त में है) में राजा मिलिन्द से शास्त्रार्थ किया और उसे पराजित किया। मिलिन्द (या मिनाण्डर) उत्तर भारत में वैक्टीरियन सामाज्य के बड़े प्रतापी राजा हुए है। उनका साम्राज्य सतलज नदी पार करके यमुना के आस-पास तक फैला हुआ था। सागलपुर उनकी राजधानी थी। प्रतापी सम्राट होने के साथ-साथ वह अच्छे विद्वान भी थे। भारतीय धर्मों के तत्वों को जानने की उनके मन में बड़ी प्रबल इच्छा थी वह बहुत से विद्वानों से मिले किन्तु कोई भी उनके ज्ञान की भूख को शान्त नही कर सका।

तब एक दिन उन्होंने नागसेन को अपने महल के पास से गुजरते देखा। नागसेन के शान्त और सौम्य व्यक्तित्व से वह बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने नागसेन को अपने महल में आमंत्रित किया और उनसे धर्म पर चर्चा की। उनके बीच कई दिन तक शास्त्रार्थ चला। राजा मिलिन्द ने अनेक प्रश्न किए और नागसेन ने उनके बड़े ही सटीक और स्पष्ट उत्तर दिए। नागसेन ने मिलिन्द की समस्त शंका-समस्याओं का समाधान कर,



न केवल उसकी ज्ञान-पिपासा को शान्त किया बल्कि उसके दर्प और दम्भ का भी दमन किया। शास्त्रार्थ में पराजित होने के बाद मिलिन्द राजा ने नागसेन की वन्दना की। वह नागसेन से बहुत प्रभावित हुआ। अन्त में अपना राज-काज अपने पुत्र को सौंपकर वह भिक्षु बनकर संघ में रहने लगा था।

नागसेन के और भी कई नाम थे—जैसे सूरसेन, वीरसेन, सिंहसेन आदि, किन्तु वह प्रसिद्ध हुए नागसेन के नाम से ही। 'नाग' शब्द से नागसेन बनता है। नाग का अर्थ होता है हाथी। हाथी को बल और बुद्धि का प्रतीक माना जाता है। इसलिए सम्भव है कि उनका बचपन का नाम कुछ और रहा हो किन्तु बाद में उनकी महान प्रतिभा के कारण तथा धर्म और दर्शन के क्षेत्र में एक अपराजेय योद्धा होने के कारण उनका नाम नागसेन पड़ गया हो।

जो भी हो नागसेन अपने समय के चोटी के विद्वान, महान तार्किक, कुशल वक्ता, उपदेशक तथा प्रसिद्ध भिक्षु थे। उन्होंने बौद्ध धर्म का बड़ा हित किया। उनकी मृत्यु के बाद उनकी अस्थियों पर बड़े-बड़े स्तूप बनवाए गए थे।

अश्वघोष

भगवान गौतम बुद्ध के जीवन-चरित और दर्शन के बारे में देश-विदेश के विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। किन्तु भगवान बुद्ध का जीवन जितना निर्मल एवं सात्विक था, तथा जितनी लोक कल्याणकारी उनकी भावनाएं थीं, उनका वैसा ही सरल तथा सरस चित्रण करने वाले अश्वघोष की कोई तुलना नहीं है। अश्वघोष के विषय में कहा जाता है कि वह प्रसिद्ध कवि, गायक, प्रचारक, नैतिकता का पुजारी, दार्शनिक, नाटककार और कहानी लेखक थे। वह अनेक कलाओं के अविष्कारक और प्रकाण्ड पण्डित थे। अपनी कला, वैभव तथा विविधता के कारण वे अंग्रेज कवि मिल्टन, गेटे एवं वाल्टेयर से बहुत आगे थे।

अश्वघोष के जीवन के बारे में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। क्योंकि अन्य कवियों की तरह उन्होंने कहीं पर भी अपना परिचय नहीं दिया है। केवल उनकी रचना सौन्दरानन्द से ही उनका संक्षिप्त परिचय मिलता है। इसके अलावा अन्य स्त्रोतों से भी जो जानकारी उपलब्ध हो सकी है इसके आधार पर ही बौद्ध जगत के इस महान कवि का परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

अश्वघोष का जन्म प्रथम शताब्दी ई० में अयोध्या में एक

ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता के नाम का पता नहीं चलता किन्तु इनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। अश्वघोष बचपन से ही बड़े प्रतिभावान थे। पहले इन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन किया, किन्तु बाद में ज्ञान की तलाश में ये पाटलीपुत्र चले आए और बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर भिक्षु हो गए।

बौद्ध धर्म तथा दर्शन का गम्भीर अध्ययन करके ये बड़े ख्याति प्राप्त विद्वान हो गए। इनकी ख्याति बड़ी दूर-दूर तक फैल गई थी। यद्यपि अश्वघोष दर्शन शास्त्र के प्रगाढ़ विद्वान थे, तथापि उन्होंने कविता और नाटक भी लिखे। वह ब्राह्मण तथा वैदिक साहित्य के कुशल पण्डित, महाभारत के विशेषतः वाल्मीकि रामायण के मर्मज्ञ विद्वान तथा महान लेखक थे।

अश्वघोष का जीवन कहाँ-कहाँ व्यतीत हुआ, इस विषय में कुछ अधिक जानकारी नहीं मिलती। इतना पता चलता है कि वह एक निःस्वार्थ मिशनरी तथा महान प्रचारक थे। वह गाँव-गाँव, कस्बे-कस्बे शहर-शहर भगवान बुद्ध की स्तुति में गाते बजाते फिरते थे।

चीनी परम्पराओं से पता चलता है कि जब कनिष्क उत्तर भारत को विजय करता हुआ पाटलीपुत्र आया तब वहाँ से वह उपहार स्वरूप दो रत्न अपने साथ अपनी राजधानी पेशावर ले गया था। उनमें से एक रत्न था भगवान बुद्ध का कमण्डल जो अशोकाराम विहार में था और दूसरा था—दार्शनिक अश्वघोष। अश्वघोष को उसने अपना राजकवि नियुक्त किया था। कनिष्क ने भारत में बौद्ध धर्म की रक्षा तथा विकास के लिए बहुत बड़ा उद्योग किया। कनिष्क के उद्योग में अश्वघोष का बहुत बड़ा हाथ था।



कहा जाता है कि प्रारम्भ में कनिष्क के मन में बौद्ध धर्म के प्रति कोई आस्था नहीं थी किन्तु बाद में अशोक की भांति उसका भी हृदय परिवर्तन हुआ और वह बौद्ध बन गया था। अशोक के समय में जो स्थान मोग्गलिपुत्र तिष्य का था वही स्थान कनिष्क के समय में अश्वघोष का था। अश्वघोष की विद्वता का प्रभाव कनिष्क के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर पर छा गया था। इसलिए बहुत मुमकिन है कि बौद्ध भिक्षु अश्वघोष के सम्पर्क में आने पर उसे दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ हो, और वह बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ हो तथा बाद में बौद्ध धर्म का और अधिक प्रचार-प्रसार करने के उद्देश्य से उसने चतुर्थ बौद्ध संगीति' का आयोजन किया हो। इस संगीति की अध्यक्षता वसुमित्र ने की थी। अश्वघोष इस संगीति के उपाध्यक्ष थे। इस संगीति में धार्मिक मतभेदों को दूर करने के लिए त्रिपिटकों पर एक विभाषाशास्त्र' तथा तीन महाभाष्यों की रचना की गयी तथा 'उन्हें ताम्रपत्रों पर खुदवाकर एक स्तूप में सुरक्षित कर दिया गया। कहा जाता है कि 'विभाषा' को अश्वघोष ने लिखा था। इसी 'विभाषा भाष्य' को लेकर बाद में बौद्ध धर्म में वैभाषिक सम्प्रदाय की स्थापना हुई। अश्वघोष की प्रेरणा से कनिष्क ने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए तिब्बत, मंगोलिया और खोतान आदि देशों में भिक्षु भी भेजे।

अश्वघोष एक महान कवि, नाटककार, दार्शनिक तथा विद्वान थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। उनकी रचनाओं में 'बुद्धचरित' उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में तथागत भगवान गौतम बुद्ध के निर्मल, सात्विक जीवन का सरल तथा सरस वर्णन है। उनकी दूसरी महत्वपूर्ण रचना 'सौन्दरनन्द' है

इस ग्रन्थ में गौतम बुद्ध के सौतेले भाई नन्द के प्रव्रज्या ग्रहण करने का प्रसंग है। ये दोनों ही ग्रन्थ महाकाव्य है।

'सारिपुत्र-प्रकरण' एक नाटक है जिसमें सारिपुत्र की बौद्ध धर्म मे दीक्षा का प्रसंग है। 'वज्रसूची' में ब्राह्मणों की जाति-व्यवस्था की घोर निन्दा की गई है। इनके अलावा राष्ट्रभाषा-प्रकरण, जातक माला तथा सूत्रालंकार भी इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं। इनके ग्रन्थों के देश विदेश की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुए हैं।

बौद्ध धर्म के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान होने के साथ-साथ संस्कृत काव्य की परम्परा में भी अश्वघोष का विशेष स्थान है। यद्यपि बौद्ध सम्प्रदाय में पालि भाषा का बहुत आदर था, तथापि अश्वघोष ने अपने साहित्य की रचना संस्कृत भाषा में की। भाषा की पकड़, उसके प्रवाह और काव्यात्मक आकर्षण के कारण अश्वघोष की रचनायें अपने आप में बेमिसाल है। उनके नाटकीय प्रकरणों में नाटक कला का विकसित रूप स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। सही अर्थों में अश्वघोष को ही भारतीय नाट्यकला का जनक मानना चाहिए। अपने नाटकों के द्वारा उन्होंने जो मील का पत्थर स्थापित किया, उसके सहारे ही बाद में 'भास' और 'कालिदास' जैसे कवि श्रेष्ठ नाटकीय रचनायें साहित्य को दे सके।

भाषा और भाव के लिए भास और कालिदास अश्वघोष के ऋणी है। इन सबसे बढ़कर अश्वघोष अपने समय के महान पथ-प्रदर्शक थे। उन्होंने अपनी सारी प्रतिभा और क्षमता को बौद्ध धर्म के प्रचार में लगाया। केवल किताब लिख कर ही नहीं बल्कि जगह-जगह घूमकर उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रति लोगों में चेतना

जागृत की। उन्होंने भगवान बुद्ध के जीवन चरित पर नाटक लिखे, उनका मंचन किया और आवश्यकता पड़ने पर स्वयं भी नाटक खेले। इस तरह अश्वघोष ने बौद्ध धर्म को मठों से निकाल कर घर-घर में चर्चा का विषय बना दिया। अश्वघोष की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि वह एक कुशल वक्ता थे। तथागत बुद्ध की जीवनगाथा को वह इतनी खूबसूरती से लोगों के सामने पेश करते थे कि लोग उनसे बहुत प्रभावित होते थे।

निःसन्देह अश्वघोष प्रखर प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने रामायण के बाद प्रथम संकृत महाकाव्य बुद्ध चरित और सुदरानन्द लिखे। संकृत के सर्वप्रथम नाटकों को लिखने का श्रेय भी अश्वघोष को है। किन्तु उनका एक ही सक्ष्य था तथागत बुद्ध के जीवन और उनके धर्म के तत्वों को जनता के हृदय तक पहुँचाना, और अपने इस उद्देश्य में अश्वघोष पूर्णतः सफल रहे हैं। बौद्ध धर्म की रक्षा तथा उसके विकास में अश्वघोष का जो योगदान रहा है, वह स्तुत्य है।

नागार्जुन

बौद्ध जगत में 'नागार्जुन' का प्रादुर्भाव दूसरी शताब्दी ई० की एक महान घटना है। 'नागार्जुन' बौद्ध जगत के एक महान दार्शनिक हुए हैं। उन्होंने भगवान बुद्ध की शिक्षाओं का नया रचनात्मक विश्लेषण किया था। वह ऐसे गौरवशाली और सुविख्यात भिक्षु थे जिन्होंने इस विश्व में बुद्ध और उनके महान धर्म की व्याख्या की। 'माध्यमिक' अथवा 'शून्यवादी' दर्शन के प्रणेता 'नागार्जुन' ही हैं। वह एक प्रतिभा-सम्पन्न दार्शनिक तथा अपने समय को प्रभावित करने वाले अग्रणी विद्वान थे। जगत पर उनका प्रभाव व्याप्त था।

'नागार्जुन' का जन्म दक्षिण भारत (संभवतः विदर्भ) में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम 'त्रिविक्रम' तथा माता नाम 'सावित्री था। ये अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान थे। कहा जाता है कि नागार्जुन के जन्म के समय ज्योतिषियों ने यह घोषणा कर दी थी कि यह बालक सात वर्ष से अधिक जीवित नहीं रह सकेगा। इसलिए सातवां वर्ष खत्म होने से पहले ही इनके माता-पिता ने इन्हें एक सेवक के साथ भ्रमण के लिए भेज दिया। क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि उनके एक मात्र पुत्र की मृत्यु उनकी आंखों के सामने हो।

भ्रमण करते हुए यह बालक अनेक जगह गया और अनेक लोगों के सम्पर्क में आया। जैसे-जैसे उनकी आयु बढती गई वे सांसारिक जीवन से विरक्त होते गए। जिज्ञासु 'नागार्जुन' ने बाल्यकाल से ही दर्शन-शास्त्रों का अध्ययन करना शुरू कर दिया। उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन शुरू किया और केवल तीन महीने में ही सम्पूर्ण 'त्रिपिटिक' को न केवल पढ़ डाला बल्कि उसके अर्थ को भी अच्छी तरह समझ लिया। एक विवरण के अनुसार नागार्जुन ने 'नालन्दा' जाकर शिक्षा प्राप्त की थी और बाद में वे इस विश्वविद्यालय के अध्यक्ष भी रहे थे। किन्तु बाद में उन्होंने महत्वाकांक्षा को तिलांजलि दे दी और बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर भिक्षु बन गए।

बीस वर्ष की आयु तक पहुंचते-पहुंचते 'नागार्जुन' अपनी विद्वता के लिए विश्वविख्यात हो चुके थे। उन्होंने अनेक विद्वानों और पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। नागार्जुन ने अनेक बौद्ध मन्दिरों और मठों का निर्माण कराया तथा बुद्ध-गया और अमरावती के मन्दिरों का जीर्णोद्वार कराया था। उन्होंने भगवान बुद्ध से सम्बन्धित समस्त तीर्थ-स्थलों की यात्रा भी की थी। किन्तु अधिकतर वे अमरावती और श्रीपर्वत में रहे।

'नागार्जुन' को सातवाहन वंश के राजा यज्ञश्री शातकर्णी का समकालीन तथा उनका मित्र बताया गया है। सातवाहन राजा 'नागार्जुन' का बड़ा सम्मान करता था। उसने नागार्जुन के लिए श्रीपर्वत में एक विशाल मठ का निर्माण कराया तथा उनकी रक्षा के लिए उनके निवास-स्थान पर अंग-रक्षक भी तैनात किया था।

'नागार्जुन' लम्बे समय तक जीवित रहे। वे महान ज्योतिष, तांत्रिक तथा रासायनिक भी थे। कहते हैं कि उनके पास

असाधारण शक्ति थी और इस शक्ति के बल पर उन्होंने स्वयं को तथा अपने मित्र सातवाहन राजा को सैकड़ों वर्ष तक जीवित रखा था। राजा का सबसे छोटा पुत्र सिंहासन पाने के लिए बहुत व्यग्र था। किन्तु रानी ने उसको बता दिया था कि 'नागार्जुन' के रहते राजा की मृत्यु नहीं हो सकती। तब राजकुमार 'नागार्जुन' के पास गया और अपने लिए उनका जीवन मांगा। कहते हैं नागार्जुन ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और घास के तिनके से अपना सिर धड़ से अलग कर दिया। किन्तु कई जगह यह कहा गया है कि राजकुमार ने 'नागार्जुन' का वध किया था।

'नागार्जुन' के नाम के सम्बन्ध में कहा जाता है कि जैसे 'नाग' का जन्म सागर से होता है और वह दोनों तटों से बचता है उसी प्रकार 'नागार्जुन' का जन्म भी 'बुद्धाधिसागर' से हुआ और वह दोनों किनारों (दोनों अतियों) से बचे। जिस प्रकार नाग के पास मणियां और स्वर्ण होता है उसी प्रकार नागार्जुन के पास सद्धर्म-मोक्ष का कोष था। जिस प्रकार एक नाग के आग्नेय नेत्र और विष भस्म कर देते हैं, उसी प्रकार 'नागार्जुन' की अन्तः दृष्टि और तर्कों ने विरोधियों के सिद्धान्त भस्म कर दिए थे, और सभी की बुद्धि प्रकाशित कर दी थी, इसलिए वे 'नाग' कहलाते थे। उनके अतुलनीय ज्ञान और शब्दों ने पाप-शक्तियों का विनाश किया और सभी मनुष्यों के लिए पवित्रता के साम्राज्य की स्थापना की, इसलिए इन्हें 'अर्जुन' कहा जाता है। इस तरह वे 'नाग' और अर्जुन' दोनों थे। एक अन्य विवरण के अनुसार उनका जन्म 'अर्जुन' जाति के एक वृक्ष के नीचे हुआ था और उन्होंने मुक्ति का मार्ग 'नागों' से प्राप्त किया था, इसलिए उनका नाम 'नागार्जुन' पड़ा।

'नाग' दक्षिण भारत में रहने वाले वे लोग थे जिनका प्रतीक चिन्ह् (टोटम) नाग था। वे प्राकृत भाषा बोलते थे। उन्होंने ही सबसे पहले प्राकृत भाषा में प्रज्ञा-पारमिता साहित्य को जन्म दिया, जिसको बाद में संस्कृत में लिखा गया। जातक कथाओं में भी नाग राजाओं का उल्लेख मिलता है। भारशिव 'नाग' थे। सातवाहनों के बाद महाराष्ट्र और कुन्तल पर शासन करने वाले 'चूतुस' भी नाग थे। आन्ध्र शासक इक्ष्वांकु वंश की कुछ नाग-कुमारियों द्वारा सेनापतियों और राज्यपालों से विवाह का उल्लेख मिलता है। ये सेनापति और राज्यपाल अपने नाम के साथ 'नाग' लगाते थे। पल्लव वंश के एक प्रसिद्ध राजा वीराकूर्च ने एक 'नाग राजकुमारी' से विवाह किया था। गुप्त वंश के सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी एक नाग कुमारी से विवाह किया था। स्पष्ट है कि 'नाग' काफी प्रसिद्ध लोग थे और उन्होंने भारतीय इतिहास में एक उल्लेखनीय भूमिका निभाई थी। संभव है इन्हीं 'नाग' लोगों से 'नागार्जुन' को महत्वपूर्ण बौद्ध ग्रन्थ प्राप्त हुए हों। नागार्जुन महान तान्त्रिक, वैद्य और दार्शनिक थे। उन्होंने धातु विज्ञान, रसायन विज्ञान, रस विद्या आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे। उनको अनेक ग्रन्थों का रचियता माना जाता है। माध्यमिक-शास्त्र या माध्यमिक कारिका उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में माध्यमिक विचार का प्रतिपादन है।

सातवाहन राजा को लिखा इनका 'सुहरलेख' अथवा 'मित्र के नाम पत्र' इतिहास में प्रसिद्ध हैं। यह नैतिक और आध्यात्मिक विचारों की बेजोड़ रचना है। इस सुहरलेख का तिब्बती, चीनी आदि कई भाषाओं में अनुवाद हुआ है। यह एक लोकप्रिय धार्मिक ग्रन्थ रहा है। कहा जाता है कि सातवीं शताब्दी में जब चीनी यात्री 'ह्वेनसांग' भारत आया तब यह इतना लोकप्रिय था कि बच्चे इसे कण्ठस्थ करने में दूसरे से पहल करते थे और युवक

इसे हर समय अपने पास रखते थे। भगवान बुद्ध ने करुणा का उपदेश दिया था। इस पत्र-लेख में करुणा पर बहुत जोर दिया गया है।

'नागार्जुन' में अन्य ग्रन्थों में 'महाप्रज्ञा-पारमिता शास्त्र', प्रतीत्य-समुत्पाद चक्र, सूत्र-समुच्चय, तंत्र-समुच्चय, योग-शतक, तन्त्र टीका तथा प्रज्ञा-शतक आदि महत्वपूर्ण हैं। इनके ग्रन्थों पर अनेक टीकाएं, उपटीकाएं लिखी गई।

'नागार्जुन' को शून्यवाद का प्रवर्तक माना जाता है। उनका यह मत इतना मान्य हुआ कि बाद में बौद्ध धर्म और दर्शन का विकास इसके सहारे ही हुआ। नागार्जुन का 'माध्यमिक दर्शन' बौद्ध धर्म का आधार स्तम्भ है। अतुल ज्ञान और कौशल के कारण नागार्जुन को बोधिसत्व कहा जाने लगा था। बौद्ध धर्म और दर्शन को नागार्जुन ने एक नया आयाम दिया। नागार्जुन निः सन्देह बौद्ध जगत की एक महान विभूति थे। उन्होंने बाद के दार्शनिकों के लिए एक दिशा तय की, तथा धर्म के प्रचार-प्रसार में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बौद्ध जगत में उनका नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता था। यह उनके प्रति सम्मान की भावना ही है कि आन्ध्र प्रदेश के 'गुन्टूर' जिले में 'श्रीपर्वत' नामक स्थान, जहां पर नागार्जुन रहते थे, का नाम ही उनके नाम पर 'नागार्जुन-कोण्डा' रखा गया।

आर्यदेव

माध्यमिक अथवा शून्यवादी दार्शनिकों की परम्परा में आर्यदेव का महत्वपूर्ण स्थान है। नागार्जुन ने शून्यवाद के दर्शन की स्थापना की थी किन्तु इस दर्शन को उसके विकास के शिखर तक ले जाने में आर्यदेव की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं है।

आर्यदेव का जन्म दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सिंहलद्वीप (आज का श्रीलंका) में हुआ था। उनके जन्म के सम्बन्ध में अनेक कथाएं हैं। तिब्बत के लामा तारानाथ एक बहुत प्रसिद्ध जीवनीकार हुए हैं। उनके अनुसार आर्यदेव का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कई स्थानों पर इन्हें काणदेव अथवा नीलनेत्र भी कहा गया है। एक विवरण के अनुसार उनको औपपादुक रूप से उत्पन्न बताया गया है। औपपादुक या उपपादुक का अर्थ है माता-पिता के द्वारा नहीं बल्कि स्वयं ही उत्पन्न। एक अन्य विवरण के अनुसार उनका लालन-पालन वहां के राजा ने किया था, और कुछ लोगों ने उनको वहां के राजा का पुत्र बताया है। इन सबके आधार पर निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है किन्तु सम्भव है कि आर्यदेव के जन्म के थोड़े बहुत दिन बाद ही उनके माता-पिता का देहान्त हो गया हो और वे अनाथ हो गए हों या किसी भी तरह से अवैध सन्तान होने के



कारण उनके माता-पिता ने उनको कहीं फेंक दिया हो और इस अनाथ बालक का पालन-पोषण राजा ने किया हो। अथवा राजा ने उनको गोद लिया हो, और उनका पालन-पोषण किया हो।

उन्होंने समस्त धर्मों और दर्शनों का गम्भीर अध्ययन किया था। उन दिनों नागार्जुन की बड़ी ख्याति थी। आर्यदेव, नागार्जुन की ख्याति सुनकर उनके दर्शन के लिए श्रीपर्वत (आज का नागार्जुन कोण्डा) आए और परस्पर वाद-संवाद के बाद वे नागार्जुन के शिष्य बन गए। नागार्जुन के सम्पर्क में रहकर उन्होने समस्त विद्याओं तथा आस्तिक और नास्तिक समस्त दर्शनों का गम्भीर अध्ययन किया। बाद में नागार्जुन ने उनको अपना प्रधान शिष्य तथा धार्मिक उत्तराधिकारी स्वीकार किया। आर्यदेव ने अपने काल के अनेक विरोधी मतावलम्बी विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया तथा सद्धर्म की रक्षा की।

आर्यदेव के विषय में कहा गया है कि वे एक आंख के अर्थात काणे थे। सम्भव है इसी कारण उनका नाम काणदेव पड़ा हो। उनके काणे होने के सम्बन्ध में भी कई कथाएं हैं। एक कथा के अनुसार उनके समय में महेश्वरी की सोने की बहुत ऊंची प्रतिमा थी, जिसके विषय में प्रसिद्ध था कि उसके सामने की हुई कामना अवश्य पूरी होती है। इस मूर्ति को छलना-मात्र सिद्ध करने के लिए आर्यदेव ने उसकी बांयी आंख निकाल ली। किन्तु कहा जाता है कि बाद में अपने अहंकार का दमन करने के लिए उन्होंने स्वयं अपनी एक आंख को निकाल लिया।

एक दूसरी कथा के अनुसार मातृचेट नाम के किसी ब्राह्मण पण्डित को शास्त्रार्थ में पराजित करने के लिए नालन्दा के भिक्षुओं ने श्रीपर्वत से नागार्जुन को बुलाया। नागार्जुन ने इस

कार्य के लिए अपने शिष्य आर्यदेव को भेजा। रास्ते में किसी वृक्ष देवता के मांगने पर आर्यदेव ने अपनी एक आंख अर्पित कर दी। नालन्दा पहुंचने पर जब मातृचेट ने इनको एकाक्ष (एक आंख वाला) देखकर इनका उपहास किया तो आर्यदेव ने बड़े गर्व से कहा कि जिस परमार्थ को शंकर भगवान तीन नेत्रों से नहीं देख सकते, इन्द्र अपनी हजार आंखों से भी जिसका साक्षात्कार नहीं कर सकते, उसी तत्व को इस एकाक्ष भिक्षु ने प्रत्यक्ष किया है। अन्त में उन्होंने उस ब्राह्मण पण्डित को शास्त्रार्थ में हराकर बौद्ध धर्म में दीक्षित किया।

आर्यदेव को बहुत सारे ग्रन्थों का रचियता माना जाता है। माध्यमिक चतुः शतक उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को बोधिसत्व-योगाचारशास्त्र भी कहा गया है। नागार्जुन के ग्रन्थ माध्यमिक-कारिका के बाद आर्यदेव का यह ग्रन्थ शून्यवाद का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। बाद में नालन्दा के महास्थविर धर्मपाल तथा प्रसिद्ध दार्शनिक चन्द्रकीर्ति ने इसकी व्याख्याएं लिखीं। ह्वेनसांग ने इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया। इस ग्रन्थ का तिब्बत तथा अन्य भाषाओं में भी अनुवाद हुआ। माध्यमिक दर्शन के अतिरिक्त आर्यदेव ने कई तान्त्रिक ग्रन्थों की भी रचना की।

आर्यदेव अहिंसा को वास्तविक धर्म मानते थे। कहा जाता है कि जब ये ध्यानावस्था में थे, तब उनके द्वारा पराजित किसी पण्डित के शिष्य ने उनका वध कर दिया। इस तरह अहिंसा के इस महान दूत का हिंसक रूप से अन्त हुआ।

बुद्धयश

बुद्धयश का जन्म चौथी शताब्दी ई० में कश्मीर में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बचपन से ही वह प्रतिभाशाली थे। बहुत थोड़ी अवस्था में ही उन्होंने समस्त वेद-वेदांगों का अध्ययन कर लिया था। किन्तु उससे उनके ज्ञान की भूख पूरी नहीं हुई। बाद में उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का जमकर अध्ययन किया। इससे उनके ज्ञान की भूख शान्त हो गई और वह बौद्ध धर्म और दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान हो गए। भगवान बुद्ध के धर्म और उनकी शिक्षाओं से वह इतने प्रभावित हुए कि बौद्ध बन गए और भिक्षु बनकर संघ में सम्मिलित हो गए।

भिक्षु बनकर एक जगह बैठना धर्म के अनुकूल नहीं है। बुद्धयश चारों ओर घूम-घूम कर धर्म का प्रचार करने लगे। धर्म-प्रचार करते हुए बुद्धयश कश्मीर से निकलकर विभिन्न स्थानों को होते हुए काशगर पहुंचे। काशगर का राजा बौद्ध था। उसने बुद्धयश का बड़ा सम्मान किया। यहां पर उनकी भेंट कुमारजीव से हुई।

कुमारजीव कश्मीर से कूचा को लौट रहा था। रास्ते में काशगर में उसकी मुलाकात बुद्धयश से हुई। बुद्धयश की विद्वता से वह इतना प्रभावित हुआ कि काशगर में ही ठहर गया और

बुद्धयश से पढ़ने लगा।

काशगर के राजा की बुद्धयश के प्रति बड़ी श्रद्धा थी और वह उन पर बड़ा विश्वास करता था। कहा जाता है कि 383 ई० में चीनी सेना ने कुमारजीव को प्राप्त करने के लिए कूचा पर आक्रमण किया था तो काशगर का राजा अपने युवराज को बुद्धयश के हाथों में सौंपकर कूचा की सहायता के लिए गया था। लेकिन उसके कूचा पहुंचने से पहले ही चीनी सेना कुमारजीव को लेकर चली जा चुकी थी।

इस घटना के दस वर्ष बाद 393 ई० में बुद्धयश अपने शिष्य कुमारजीव से मिलने चीन गए। कुमारजीव को जब अपने गुरु के आगमन का पता चला तो उसने चीन के सम्राट से उन्हें सम्मान सहित राजधानी में बुलाने के लिए कहा था।

बुद्धयश बड़े वीतराग पुरुष थे। चीन के सम्राट ने उन्हें भेंट देनी चाही। बुद्धयश ने राजा की भेंट लेने से इन्कार कर दिया लेकिन उनकी राजधानी में जाना स्वीकार कर लिया। सम्राट ने उनके लिए एक विहार बनवाया था। इस विहार में रहकर बुद्धयश धर्म का उपदेश करते थे।

बुद्धयश बड़े गम्भीर विद्वान थे। उनकी विद्वता का पता इसी से चलता है कि 60 वर्ष के कुमारजीव भी शंका-समाधान के लिए कितनी ही बार उनके पास जाया करते थे।

देश-विदेश में बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के अलावा बुद्धयश ने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

कुमारजीव

चीन के पड़ोस में 'कूचा' नाम का एक राज्य था। इसी कूचा में 343 ई० में 'कुमारजीव' का जन्म हुआ। इनके पिता का नाम 'कुमारयान' तथा माता का नाम 'जीवा' था। माता-पिता के नाम पर ही इनका नाम 'कुमारजीव' पड़ा। कुमारयान मूलरूप से भारतीय था। बाद में वह कूचा में जाकर बस गया था। वह सुशिक्षित, ईमानदार और दानशील था। उसने कूचा में बौद्धधर्म का पूरी तन्मयता से प्रचार किया। वह उच्च सरकारी पदाधिकारी था किन्तु बाद में सरकारी पद त्याग कर वह भिक्षु हो गया। वहां के राजा की एक अति सुन्दर और बुद्धिमति बहन थी जिसका नाम 'जीवा' था। कुमारयान ने उससे विवाह कर लिया। उन दोनों के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम 'कुमारजीव' रखा गया। आगे चलकर कुमारजीव ने [illegible] बौद्ध धर्म के इतिहास में महान कीर्ति अर्जित की।

बचपन से ही कुमारजीव की मां अपने बेटे को अच्छी शिक्षा दिलाना चाहती थी। कुमारजीव कुशाग्र बुद्धि के थे। मात्र [illegible] वर्ष की आयु में ही इन्होंने 1000 श्लोक प्रतिदिन के हिसाब से बौद्ध धर्म का अध्ययन शुरू किया। जब वह [illegible] ही वर्ष के हुए [illegible] 'कुमारजीव' की मां इन्हें कश्मीर ले गई। कश्मीर में [illegible] नाम के एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु थे। कुमारजीव ने उनसे

रहकर बौद्धधर्म का अध्ययन किया। कुमारजीव बड़े प्रतिभाशाली थे। कहा जाता है कि कुमारजीव की अद्भुत प्रतिभा देख कर एक अर्हत चकित रह गया और उसने कुमारजीव की माता को बालक को बहुत हिफ़ाजत से रखने का परामर्श दिया। उसने बताया कि बड़ा होकर यह बौद्ध धर्म की महान सेवा करेगा। कश्मीर में रहते हुए कुमारजीव ने धर्म, दर्शन तथा बहुत सारी विद्याओं का गम्भीर अध्ययन किया और विद्वान बन गए। बीस वर्ष की अवस्था में वे अपनी मां के साथ वापस कूचा की ओर चल दिए। कश्मीर से कूचा को लौटते समय कुमारजीव 'काशगर' से गुजरे। यहां उनकी मुलाकात एक प्रसिद्ध भिक्षु 'बुद्धयश' से हुई। बुद्धयश बड़े वीतराग पुरुष और गम्भीर विद्वान थे। कुमारजीव उनसे बहुत प्रभावित हुए और कुछ समय काशगर में ठहरकर बुद्धयश से पढ़ने लगे। जिस समय कुमारजीव काशगर में ठहरे थे उसी समय वहां के एक महायानी भिक्षु सूर्यसोम से भी उनका परिचय हुआ। सूर्यसोम उस समय आचार्य नागार्जुन के ग्रन्थ माध्यमिककारिका तथा आर्यदेव पर व्याख्यान दे रहे थे। कुमारजीव उन व्याख्यानों को सुनने जाते थे और इस प्रकार वे महायानी बन गये। उसके बाद कुमारजीव कूचा लौट आए और भिक्षु बन गये।

भिक्षु बनकर कुमारजीव ने 30 वर्ष तक बौद्ध धर्म का प्रचार किया। कूचा में पहले हीनयान की प्रधानता थी लेकिन कुमारजीव के कारण वह महायान का गढ़ बन गया। उनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई। उनकी ख्याति सुनकर 385 ई० में चीन के सम्राट फू-की-येन ने उनको बुलवाने के लिए कूचा के राजा के पास दूत भेजा। लेकिन कूचा का राजा अपने राज्य के इस रत्न को देना नहीं चाहता था। उसने कुमारजीव को भेजने

से इंकार कर दिया। चीनी सम्राट ने इसे अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझा और कुमारजीव को लाने के लिए सेना भेजी। चीनी सेना ने कूचावालों पर बहुत जुल्म ढाया और उनके मान्य गुरु 'कुमारजीव' को बन्दी बना लिया।

विजयी सेनापति कुमारजीव को लेकर लौट रहा था कि रास्ते में उसे सम्राट की हत्या की खबर मिली। राजधानी जाने का ख्याल छोड़कर सेनापति ने कन्सू प्रान्त में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और 385 ई० से 401 ई० तक 16 वर्ष कुमारजीव को अपनी राजधानी में रखा।

सन् 401 ई० में कुमारजीव चीन पहुंचे। वहां के राजा ने उनका बड़ा सत्कार किया और उन्हें अपना राजगुरु बना लिया। वह बड़ी श्रद्धा से कुमारजीव के उपदेश सुनता था। कुमारजीव की सलाह उसके लिए कितनी महत्वपूर्ण होती थी यह इसी से पता चलता है कि कुमारजीव के साथ वह बहुत-बहुत देर तक विचार-विमर्श करता था।

कुमारजीव कई भाषाओं के ज्ञाता थे। 'तुखारी' उनकी मातृभाषा थी। इसके अतिरिक्त संस्कृत, तुर्की और चीनी भाषाओं के भी विद्वान थे। इन सब भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। कुमारजीव के आने से पहले मध्य एशिया और चीन से आने वाले जो बौद्ध भिक्षु भारतीय ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद कर रहे थे, वे सब गैर-चीनी थे। उनकी सहायता के लिए चीनी बौद्ध होते थे। किन्तु वे भारतीय शब्दों एवं वाक्यों की शैली को अच्छी तरह समझ नहीं पाते थे। कितनी ही बार तो पाठकों को अनुवाद का अर्थ भी समझ में नहीं आता था

सम्राट याऊ-हिड़ की प्रार्थना पर कुमारजीव ने इस दोष को दूर करने का बीड़ा उठाया। उनकी सहायता के लिए 800 विद्वान दिए गए। इन विद्वानों का काम था नए संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद करने और पुराने अनुवादों के संशोधन में कुमारजीव की सहायता करना। कितनी ही बार स्वयं राजा भी बैठक में उपस्थित रहता था।

कुमारजीव कितने महान विद्वान थे और उनका कितना गौरव था, यह इसी से पता चलता है कि सम्राट, कुमारजीव का न केवल सम्मान करता था बल्कि उसे कुमारजीव पर गर्व भी था। सम्राट कहा करता था कि 'मुझे इस बात का गर्व है कि बौद्ध धर्म का सबसे महान विद्वान मेरे राज्य में है।' कहते हैं कि राजा के उत्तराधिकारियों ने कुमारजीव से विवाह करके सन्तान छोड़ जाने का अनुरोध किया। इसके लिए उनके पास दस स्त्रियां भेजी गयीं। कुमारजीव ने प्रार्थना स्वीकार कर ली और भिक्षु जीवन का परित्याग कर गृहस्थ हो गए। लेकिन उनको यह सब अच्छा नहीं लगता था। उपदेश करते समय वह श्रोताओं से कहा करते थे, 'मेरे कार्यों का अनुकरण करो, मेरे जीवन का नही, क्योंकि वह आदर्श नहीं है। कमल कीचड़ से उत्पन्न होता है। कमल को प्यार करो, कीचड़ को नहीं।'

अपनी जीवन यात्रा के दौरान कुमारजीव ने सैकड़ों संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चांग-आन में बारह वर्ष काम करने के बाद सन् 413 ई० में 71 वर्ष की आयु में कुमार जीव की जीवन यात्रा समाप्त हुई। उनका जीवन निःसन्देह बेहद सफल और गौरवपूर्ण रहा। भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार

की दृष्टि से कुमारजीव उन व्यक्तियों में से एक थे जिन्होंने बौद्ध विचारधारा का सम्यक रूप से चीन में पहले-पहल प्रचार किया।

बुद्धघोष

बुद्धघोष का जन्म मगध प्रान्त में, बोधिगया के निकट, 'घोस' नामक गांव में, एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। यह चौथी शताब्दी ई० की घटना है। इनके पिता किसी राजा के यहां पुरोहित थे। कहते हैं कि इनके जन्म के समय नौकरों और ब्राह्मणों का 'खाओ-पीओ' इत्यादि मधुर शब्दों का घोष (शोर) हुआ, इस कारण इनका नाम बुद्धघोष पड़ गया।

बुद्धघोष ने विद्या, शिल्प और कला इन तीनों की पूर्ण शिक्षा प्राप्त की थी। ये तीनों वेदों और पातंजल योग दर्शन तथा व्याकरण, पुराण, सांख्य, वेदान्त और न्याय दर्शन के ज्ञाता तथा शास्त्रार्थ में निपुण थे। इनके बारे में प्रसिद्ध है कि सात वर्ष की अल्पावस्था में ही ये तीनों वेदों में पारंगत हो गए थे। बौद्धधर्म से प्रभावित होकर ये बौद्ध भिक्षु बन गए। उस समय के प्रसिद्ध महाथेर 'रेवत' से इन्होंने दीक्षा ली थी और गुरू के आदेशानुसार सिंहली अट्ठकथाओं के अध्ययन और उनका पाली में अनुवाद करने के लिए ये श्रीलंका गए।

श्रीलंका जाते हुए मार्ग में दक्षिण के विहारों में इनका अनेक विद्वान थेरों से परिचय हुआ जिनमें थेर बुद्ध दत्त और थेर जोतिपाल प्रमुख हैं, जो उस समय के प्रसिद्ध विद्वान तथा अपने-अपने विहारों के अधिपति थे। बुद्धघोष ने इनसे भी ज्ञान प्राप्त

किया।

बुद्धघोष 420 ई० में सिंहल पहुंचे। श्रीलंका पहुंचकर बुद्धघोष ने वहां की भाषा सीखी, फिर अनुराधापुर के महाविहार के अध्यक्ष, प्रसिद्ध थेर संघपाल सहित अलग-अलग सिंहली अट्ठकथाओं के विशेषज्ञ आचार्यों से उन-उन अट्ठकथाओं को पढ़ा। इसके बाद उन्होंने 'विसुद्धिमग्ग' नाम का अपना स्वकीय स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा और तदुपरान्त अट्ठकथाओं को शुद्ध तथा सुसंस्कृत पाली भाषा में लिखा।

बौद्ध सिद्धान्तों के महान व्याख्याकार तथा पांचवी शताब्दी के युगपुरुष आचार्य बुद्धघोष, विभिन्न देशों में घूमते हुए अपने अन्तिम दिनों में कम्बोडिया गए और वहीं पर उन्होंने अन्तिम सांस ली। मृत्यु के बाद इनकी चिता चन्दन की बनवाई गई। उनकी अस्थियों को बोधिवृक्ष के पास ले जाकर स्थापित किया गया और उनके ऊपर स्तूप बनवाए गए। बर्मा और कम्बोडिया में भी उनकी अस्थियों पर स्तूप बनवाए गए।

आचार्य बुद्धघोष एक प्रतिभा सम्पन्न विद्वान, दार्शनिक और समीक्षक थे। समस्त संसार के बौद्ध-विद्वानों की साहित्यिक क्षमता के विकास में आचार्य बुद्धघोष का महत्वपूर्ण योगदान है। पाली भाषा को समृद्ध और सम्पन्न बनाकर सिंहली भाषा के स्थान पर ग्रन्थ रचना के माध्यम के रूप में स्थापित करने का श्रेय भी आचार्य बुद्धघोष को है। विद्वानों ने उनके पाण्डित्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। विद्वानों की धारणा है कि यदि आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथाएं नहीं होतीं तो बुद्ध भगवान के सिद्धान्त और दर्शन की बहुत सी बातें अज्ञात ही रह जातीं।

बुद्धघोष के ज्ञान के विषय में कहा जा सकता है कि ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण संस्कृत तो उनकी मातृभाषा थी ही,

बौद्धभिक्षु बनने के पश्चात् उन्होंने मागधी (पाली) पर भी पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। इसके बाद श्री लंका जाकर सिंहली भाषा का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। इनकी विद्वता के कारण महाथेर संघपाल ने इनकी प्रशंसा की तभी ये लंकाद्वीप में पुजने लगे और स्वयं भगवान बुद्ध के समान इनकी मान्यता होने लगी। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के निमित्त उन्होंने श्रीलंका के अलावा, *बर्मा और कम्बोडिया आदि कई अन्य देशों का भी भ्रमण किया।*

आचार्य बुद्धघोष बचपन से ही बड़ी विलक्षण बुद्धि के थे। इनके जीवन की कुछ घटनाएं बहुत प्रसिद्ध हैं। एक घटना के अनुसार इनके पिता राजा को वेद पढ़ाने जाया करते थे। एक दिन बुद्धघोष भी उनके साथ गए। पढ़ाते समय इनके पिता किसी कठिन पाठ पर अटक गए और राजा की आज्ञा लेकर घर आ गए। बुद्धघोष ने पिता की उस पुस्तक में उस कठिन पाठ का अर्थ लिख दिया। पिता को जब मालूम पड़ा कि यह कार्य बुद्धघोष का ही था तो वे बहुत प्रसन्न हुए और सारी घटना राजा को जाकर सुना दी। राजा ने हर्षित होकर बुद्धघोष को हृदय से लगा लिया और यह कहकर कि 'तुम मेरे पुत्र हो और मैं तुम्हारा पिता', उनको एक गांव पुरस्कार में दे दिया।

दूसरी घटना श्रीलंका की है। वहां पहुंचने पर वे महाविहार के संघपति महाथेर के पास गए और एक ओर बैठ गए। महाथेर श्रमणों को अभिधम्म और विनय का उपदेश दिया करते थे। एक दिन उपदेश देते समय एक गूढ़ पाठ उनकी समझ में नहीं आया और वे मौन होकर अपनी कुटी के भीतर सोचने के लिए चले गए।

इसी बीच वहां उपस्थित बुद्धघोष ने श्यामपट्ट पर उस गूढ पाठ का अर्थ स्पष्ट करके लिख दिया और कहीं चले गए। महाथेर ने कुटी से बाहर निकलकर जब उस पाठ को पढ़ा तो हतप्रभ रह गए। जब उन्हें मालूम हुआ कि इस अर्थ को उस अपरिचित व्यक्ति ने लिखा है तो उसकी खोज करवाई गई और उनको संघ के श्रमणों को त्रिपिटिक पढ़ाने का कार्य सौंपा।

आचार्य बुद्धघोष की स्मरण शक्ति कितनी तेज थी, इस संबंध में भी एक घटना प्रसिद्ध है। एक बार श्रीलंका में दो दासियों का आपस में झगड़ा हो गया। उनमें से एक तालाब से पानी का घड़ा भरकर ऊपर ला रही थी और दूसरी खाली घड़े को भरने के लिए नीचे जा रही थी। किसी तरह दोनों के घड़े आपस में टकरा गए और उनमें से एक का घड़ा फूट गया। उसने दूसरी को गाली दी, इसपर दूसरी ने भी गालियां दीं। संयोग से बुद्धघोष उस समय वहीं पर थे। उन्होंने सोचा कि यहां और कोई नहीं है, मैं ही साक्षी के रूप में बुलाया जाऊंगा। उन्होंने दोनों की सारी की सारी बातें उन्हीं की बोली में बिना उसका अर्थ समझे क्रमशः याद करलीं और लिख लीं। हुआ भी ऐसा ही। जिस दासी का घड़ा फूट गया था उसके स्वामी ने अधिकरण में मुकद्दमा पेश कर दिया। बुद्धघोष साक्षी के रूप में बुलाये गए। उन्होंने कहा 'हम श्रमण लोग ऐसी बातों की ओर ध्यान नहीं देते और न ही इन लोगों की बोली को ही समझ सकते हैं। किन्तु यह समझकर कि साक्षी के रूप में मुझे बुलाया जाएगा, मैंने इनकी सारी बातें लिख लीं थी।' ऐसा कहकर उन्होंने राजा के सामने उन दासियों की क्रमशः गाली-गलौच की सारी लिखी हुई

बातें रख दीं। राजा ने उसी के अनुसार अपना फैसला सुनाया। जब हारे हुए ब्राह्मण ने श्रमण की निन्दा की तो राजा ने श्रमण की प्रशंसा की और कहा कि उसने ऐसा धार्मिक, तीव्र बुद्धि और ध्यानी श्रमण अब तक नहीं देखा।

बुद्धघोष ने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें विसुद्धिमग्ग, समन्तपासादिका, कंखावितरणी, सुमंगलविलासिनी, पपञ्च-सूदनी, सारत्थप्पासिनी, मनोरथपूरणी, परमत्थसोतिका, अट्ठ-सालिनी, सम्मोहनविनोदिनी, पञ्चप्पकरण-अट्ठकथा (पांच ग्रन्थ) धम्मपद-अट्ठकथा, जातक-अट्ठकथा तथा ञाणोदय आदि प्रमुख हैं। इनमें विसुद्धिमाग्ग उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है और अट्ठकथाओं के महत्व और मान्यता का तो इसी से पता चलता है कि उनके कारण ही बर्मा में बौद्धधर्म का एक नया युग शुरू हो गया था। उन्होंने बौद्ध धर्म को प्रकाश में लाने के लिए त्रिपिटिक ग्रन्थों को सारगर्भित व्याख्या के द्वारा सम्पादित किया। इनकी अट्ठकथाओं के द्वारा लोगों के लिए त्रिपिटिक को समझने में निश्चय ही मदद मिली है। इनकी अट्ठकथाओं ने बुद्धवचनों को चिरस्थायी तथा बुद्धशासन को अक्षुण्य बनाकर बौद्ध धर्म की महत्वपूर्ण सेवा की है तथा अन्य बौद्ध आचार्यों को जो प्रेरणा दी है उससे यदि इन्हें अनुपिटिक साहित्य का युगप्रवर्तक तथा पाली साहित्य का उद्धारक कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी।

असंग

नागार्जुन और आर्यदेव के वाद के बौद्ध दार्शनिकों में असग और वसुबन्धु का विशेष स्थान है। बौद्ध दर्शन के विकास में इन दोनों की वडी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ये दोनों सगे भाई थे। इनमें से असंग का परिचय यहां दिया जा रहा है।

असंग का जन्म चौथी शताब्दी में गंधार प्रदेश के अन्दर पुरुषपुर (आज का पेशावर, जो अब पाकिस्तान में है) में हुआ था। ये प्रसिद्ध दार्शनिक वसुवन्धु के वड़े भाई थे। वसुवन्धु के अलावा इनके एक भाई और था, उसका नाम था—विञ्चिवत्स। तीनों भाइयों में असंग सबसे बड़े थे, उनसे छोटे वसुवन्धु और विरञ्चिवत्स सबसे छोटे थे।

कहा जाता है कि एक ब्राह्मणी और एक क्षत्रिय से असंग पैदा हुए तथा वाद में इसी ब्राह्मणी और एक ब्राह्मण से वसुवन्धु पैदा हुए थे।

असंग वचपन से ही वड़े प्रतिभाशाली थे। पहले उन्होंने वेदों तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया। किन्तु उससे उनके ज्ञान की भूख शान्त नहीं हुई। वाद में बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर वह बौद्ध वन गए और भिक्षु संघ में सम्मिलित हो गए। मैत्रेय नामक भिक्षु से असंग ने बौद्ध धर्म और दर्शन की शिक्षा ग्रहण

की थी। मैत्रेय और असंग का सम्बन्ध कुछ-कुछ सुकरात और प्लेटो (अफलातून) जैसा था। जिस तरह सुकरात के उपदेशों की उनके शिष्य प्लेटो ने व्याख्या की, उसी तरह चौथी शताब्दी में मैत्रेय के विचारों अथवा उपदेशों की उनके शिष्य असंग ने व्याख्या की थी। थोड़े ही समय में वह धर्म और दर्शन के बड़े प्रचण्ड विद्वान हो गए थे।

असंग की प्रेरणा से उनके दोनों भाई भी बौद्ध बन गये थे। प्रारम्भ में तीनों भाई 'सर्वास्तिवाद' मत के अनुयाई थे। किन्तु बाद में वे 'महायानी' हो गये थे।

असंग, विज्ञानवादी दार्शनिक थे। उन्होंने 'विज्ञानवादी' अथवा 'योगाचार' मत प्रतिपादित किया था विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान ही परमार्थ तत्व है। असंग ने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की तथा अनेक ग्रन्थों की टीकाएं भी की।

अपने जीवन काल मे असंग कहां-कहां रहे, इस बात का पता नहीं चलता है। लेकिन पता चलता है कि पेशावर के अलावा वह वह 'कुक्कुट-पाद' पर्वत की गुहा में अनेक वर्षो तक रहे थे। असंग ने अपना कुछ समय कौशाम्बी में भी बिताया था। कौशाम्बी में एक आम्रवन था। इस आम्रवन में असंग कुछ दिन रहा था। ह्वेन्सांग जब भारत की यात्रा पर आया था तो उसने इस आम्रवन के भी दर्शन किये थे। असग कितने बड़े दार्शनिक और विद्वान थे तथा बौद्ध जगत में उनका कितना ऊंचा स्थान था, इस घटना से इस बात का भी पता चलता है। असंग को गुप्तकाल के रत्नों में से एक माना जाता था।

असंग निसन्देह विज्ञानवाद (अथवा योगाचार) दर्शन के प्रथम आचार्य तथा मध्यकालीन भारत के महान दार्शनिक थे।

अपने पहले के बौद्ध दर्शन को उन्होंने विज्ञानवाद का रूप दिया, कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की तथा अपने बाद के दार्शनिकों और चिंतकों के लिए एक नई अन्वेषक दृष्टि प्रदान की थी। बाद में असंग के ग्रन्थों के चीनी तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद हुये और उन पर टीकाएं लिखी गईं।

असंग ने बौद्ध दर्शन को एक नई दिशा दी। दर्शन के विकास में उनका योगदान महान था।

वसुबन्धु

बौद्ध आचार्य वसुबन्धु का जन्म चौथी शताब्दी ई० की महान घटना थी। जैसा कि 'असंग' के परिचय में बताया गया है वसुबन्धु का जन्म पेशावर में हुआ था। उनकी माता का नाम 'प्रसन्नशीला' था। उनके पिता एक सम्पन्न ब्राह्मण थे।

अपने बचपन से ही वसुबन्धु बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा ब्राह्मण पुरोहितों के द्वारा हुई। किन्तु ब्राह्मण पुरोहित उनकी ज्ञान-पिपासा को शान्त नहीं कर सके। वसुबन्धु के तर्कशील मस्तिष्क में तरह-तरह के प्रश्न उठा करते थे। अपने आस-पास उन जिज्ञासाओं का उत्तर न पाकर वह ज्ञान की तलाश में बाहर निकले।

पेशावर से चलकर ज्ञान की तलाश में वह कश्मीर पहुंचे, और एक बौद्ध आचार्य के चरणों में बैठकर बौद्ध धर्म की शिक्षा प्राप्त की। बाद में भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षाओं से प्रभावित होकर वसुबन्धु बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गए और भिक्षु बनकर रहने लगे। उन्होने बौद्ध शास्त्रो का जमकर अध्ययन किया। बौद्ध-विद्या तथा अन्य शास्त्रों के वे बड़े भारी पण्डित हो गये। विद्वता और तर्कशक्ति में कोई उनसे मुकाबला नहीं कर सकता था। अनेक विरोधी मतावलम्बियों को उन्होंने शास्त्रार्थ में पराजित किया और अनेक ग्रन्थों की रचना की।

वसुबन्धु के अनेक शिष्य थे। मध्यकालीन न्यायशास्त्र के पिता कहे जाने वाले आचार्य दिग्नाग तथा स्थिरमति, विमुक्तसेन व गुणप्रभ, वसुबन्धु के शिष्य थे। प्रसिद्ध गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त की वसुबन्धु पर विशेष कृपा थी। स्कन्दगुप्त ने उनको अपने पुत्र नरसिंह गुप्त बालादित्य का शिक्षक नियुक्त किया था। वसुबन्धु के प्रभाव से स्कन्दगुप्त के पश्चात के अनेक गुप्त नरेश बौद्ध धर्म से प्रभावित होने लगे थे।

स्कन्दगुप्त के बाद जब बालादित्य शासक बना तो उसने वसुबन्धु को अपनी राज्यसभा में अयोध्या बुला लिया। वसुबन्धु ने अपने बाकी जीवन का एक बड़ा हिस्सा वहीं रहकर बिताया।

वसुबन्धु ने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। सांख्य मत के आचार्य विन्ध्यवसी के विचारों का खण्डन करने के लिये उन्होंने 'परमार्थ-सप्ततिका' नामक ग्रन्थ की रचना की। वसुबन्धु के इस ग्रन्थ पर मुग्ध होकर सम्राट स्कन्दगुप्त ने उन्हें तीन लाख स्वर्ण मुद्राएं भेंट में दी थीं। इन स्वर्ण मुद्राओं से वसुबन्धु ने अयोध्या में भिक्षुओं और भिक्षुणियों के निवास के लिये तीन विहार बनवाये थे।

वसुबन्धु की विद्वता के बारे में एक और घटना का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि बालादित्य के साले वसुरात ने एक बार वसुबन्धु के व्याकरण की तीव्र आलोचना की और बहुत सारी त्रुटियों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। इसकी प्रतिक्रिया में वसुबन्धु ने भी वसुरात के व्याकरण की आलोचना में एक पूरा ग्रन्थ लिखा। विद्वानों ने इस ग्रन्थ की बड़ी सराहना की। बालादित्य और उसकी माता ने इस ग्रन्थ से प्रसन्न होकर वसुबन्धु को अलग-अलग अपार धन दिया। वसुबन्धु ने इस धनराशि से पेशावर, कश्मीर और अयोध्या में भी एक-एक बौद्ध

विहार का निर्माण कराया था।

वसुबन्धु सदैव अध्ययन, प्रवचन और लेखन में तल्लीन रहते थे। वह बड़े कुशल वक्ता थे। लोगों पर उनकी बातों का बड़ा गहरा असर होता था। वसुबन्धु के प्रवचनों से प्रभावित होकर नरसिंह गुप्त बालादित्य बाद में बौद्ध भिक्षु बन गया था, और विहार में रहने लगा था। वसुबन्धु की प्रेरणा से बालादित्य के अलावा अन्य बहुत सारे लोग भी बौद्ध बन गये थे।

कौशाम्बी में भी वसुबन्धु कुछ समय के लिये रहे थे, औरयहां पर रहते हुये उन्होंने एक ग्रन्थ की रचना की थी। अपनी भारत यात्रा के दौरान चीनी यात्री ह्वेनसांग जब कौशाम्बी गया तो उसने बौद्ध धर्म से संबंधित अन्य स्मारकों के अलावा उस दुमंजले मंडप के भी दर्शन किये थे, जिसमें बैठकर वसुबन्धु ने ग्रन्थ लिखा था।

वसुबन्धु ने और भी अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। वह बहुत ही प्रखर विद्वान, कुशल चिंतक तथा वक्ता थे। यद्यपि प्रारम्भ में वह 'सौतान्त्रिक मत' से प्रभावित थे लेकिन अपने बड़े भाई असंग की प्रेरणा से वृद्धावस्था में वह 'विज्ञानवाद' की ओर आकृष्ट हो गये थे। वसुबन्धु ने विज्ञानवाद पर कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे और इस तरह अपने बड़े भाई के काम को और सुव्यवस्थित रूप में दार्शनिक क्षेत्र में पेश किया।

वसुबन्धु ने न्याय ग्रन्थों की भी रचना की। यद्यपि वह मध्यकालीन न्यायशास्त्र के पिता कहे जाने वाले 'आचार्य दिग्नाग' के भी गुरू थे। किन्तु न्याय के क्षेत्र में शिष्य की प्रतिभा के सामने वसुबन्ध की प्रतिभा ढक गई। फिर भी वसुबन्धु के कार्य को

किसी तरह भी कम करके नहीं आंका जा सकता। बौद्ध धर्म और दर्शन के हित में उन्होंने जो महान कार्य किया वह स्तुत्य है।

अस्सी वर्ष की अवस्था में, अयोध्या में इस महान दार्शनिक ने अपने जीवन की आखरी सांस ली।

फाह्यान्

चौथी शताब्दी ई० में भारत बौद्ध संस्कृति और धर्म का केन्द्र था। भारत की भूमि से पैदा होकर ही बौद्ध धर्म दूर देशों तक फैला। भारत से अनेक बौद्ध भिक्षु भिन्न-भिन्न देशों में बौद्ध-धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए गए। इन भिक्षुओं के साथ ढेर सारा बौद्ध साहित्य भी बाहर के देशों में गया और विभिन्न भाषाओं में उसका अनुवाद हुआ। किन्तु चौथी शताब्दी तक त्रिपटक (तीन• पिटक अर्थात् सुत्त पिटक, अभिधम्म पिटक और विनय पिटक) में से एक विनय पिटक (भिक्षु नियम) के अनुवाद की ओर किसी का ध्यान नहीं गया था। चीनी भिक्षु 'फाह्यान्' पहला व्यक्ति था, जिसका ध्यान इस ओर गया और वह विनय-ग्रन्थों का संग्रह करने के लिए भारत आया।

फाह्यान् का जन्म चौथी शताब्दी में चीन में 'पिंग-यांग' (आधुनिक शान्सी प्रान्त का एक भाग) में 'वु-यांग' नामक स्थान पर एक बौद्ध परिवार में हुआ था। उसका गौत्र नाम 'कुंग' था। तीन वर्ष की अवस्था में ही उसके माता-पिता ने उसे एक बौद्ध विहार में ले जाकर श्रमणेर बना दिया था। उसके माता-पिता की मृत्यु जल्दी ही हो गई थी। बीस वर्ष का होने पर उसने

अपनी श्रमणेर अवस्था पूर्ण की और बौद्ध संघ में दीक्षा लेकर भिक्षु बन गया तथा 'चांग-आन' में एक विहार में रहने लगा।

अपने अपूर्व साहस, कुशाग्र बुद्धि और आचार के कठोर संयम के कारण वह प्रसिद्ध हो गया। भिक्षु नियमों को पढने का उसे बहुत शौक था। किन्तु उस समय तक विनय की पुस्तकें चीन में उपलब्ध नही थी। जो थोड़ी बहुत पुस्तकें थीं भी उनकी जीर्ण और अपूर्ण दशा देखकर वह स्वयं को दुःखी अनुभव करता था। फाहयान् ने विनय पिटक को सुलभ करने का निश्चय किया। 399 ई० में उसने चीन छोड़ दिया और युवकों के एक दल के साथ बौद्ध संस्कृति और धर्म के केन्द्र, भारत की ओर प्रस्थान किया। इस दल का नेता वह खुद था।

कुछ समय बाद ही रेगिस्तान पार करते समय फाहयान् और उसके साथी एक दूसरे से बिछुड़ गए। उनको गर्म हवा तथा अन्य आपत्तियों का सामना करना पड़ा। न आकाश में कहीं एक पक्षी दिखाई पड़ता था और न धरती पर कहीं एक पशु। उस रेगिस्तान में सही मार्ग पर रहने की चिन्ता उनको सदैव ही रहती थी। पथ-चिन्हों के रूप में उनको इधर-उधर बिखरी हड्डियां ही नजर आती थी। इस तरह विभिन्न निर्जन रास्तों और नदियों को पार करते हुए तथा अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए वह 'खोतान' पहुंचा (यह स्थान लद्दाख या उसके कहीं आस-पास में था)। फाहयान् ने यहां के भिक्षुओं को विनय का पालन करते देखा। इन भिक्षुओं के संयम और अनुशासन से वह बहुत प्रभावित हुआ। ऐसे संयमी और अनुशासित भिक्षु उसने पहले कभी नही देखे थे। कुछ दिन तक यहां रहकर उसने विनय का अभ्यास किया।

फिर उसने गर्मी और जाड़ों में सदा बर्फ से ढ़की रहने वाली पर्वतमालाएं पार कीं। इन पर्वतों पर जहरीले सर्पों की भरमार थी। इन सर्पों के विषय में कहा जाता था कि उत्तेजित हो जाने पर ये सांस के द्वारा विषैली वायु उगलने लगते थे और बर्फ की वर्षा तथा बालू और पत्थरों की आंधियां उत्पन्न कर देते थे। इन पर्वतमालाओं को 'हिम का पर्वत' कहा जाता था। इस तरह खोतान से कशमीर होता हुआ, वह पंजाब पहुंचा और फिर गन्धार देश में गया। उस समय गंधार में अशोक का एक वंशज 'धर्म विवर्धन' राज्य कर रहा था।

गन्धार से चलकर वह 402 ई० में पुरुषपुर (आज का पेशावर, जो अब पाकिस्तान में है) पहुंचा। रास्ते में उसका एक साथी बीमार पड़ गया और 'बुद्ध कमंडलु मठ' में उसने प्राण त्याग दिए। कुसुमपुर (आज का पटना) में वह 'रेवत' नाम के एक प्रसिद्ध भिक्षु से मिला। रेवत के पास रहकर उसने कुछ दिन तक अध्ययन किया। रेवत से उसे कई पुस्तकें भी मिलीं। फिर वह बंगाल आया और कुछ समय तक बंगाल में रहकर पढ़ा। बंगाल से वह ताम्रलिप्ति आया और यहां से जहाज के रास्ते सिंघल (श्रीलंका) की ओर रवाना हुआ। श्रीलंका का महास्थविर बहुत प्रसिद्ध था। जिस समय फाह्यान् वहां पहुंचा उस समय महाविहार में तीन हजार तथा अभयगिरि में चार हजार भिक्षु रहते थे। फाह्यान् श्रीलंका में दो वर्ष रहा और यहां से उसने अनेक ग्रन्थ प्राप्त किए।

फाह्यान् ने मध्य भारत के एक बड़े भू-भाग की यात्रा की और बौद्ध तीर्थ-स्थानों के दर्शन किए। उसका मूल उद्देश्य विनय ग्रन्थों की खोज करना था। छः वर्ष से अधिक समय तक

वह भारत में रहा। उसे चीन से चलकर मध्यभारत तक पहुंचने में छः वर्ष लगे थे। अपने भारत भ्रमण के दौरान उसने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का संग्रह किया।

इस तरह अनेक वर्षों तक निरन्तर देश-देशान्तर में घूमते हुए फाहयान् स्वदेश लौटने के लिए जावा पहुंचा। उसने पांच महीने जावा में बिताए और 412 ई० में चीन लौट गया। वहां के राजा और प्रजा ने उसका बड़ा सम्मान किया। पूर्वी चीन की राजधानी नानकिंड़ में राजा की ओर से उसका शानदार स्वागत किया गया। बाद के सारे जीवन भर फाहयान् दक्षिणी चीन के विहारों में विनय पिटक का प्रचार करता रहा। 86 वर्ष की आयु में इस महान और साहसिक यात्री की जीवन यात्रा का अन्त हो गया।

यद्यपि फाहयान् ने बहुत सारे ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद भी किया, किन्तु वह प्रसिद्ध है अपनी यात्रा के कारण ही। उसकी यात्रा रहस्य और रोमांच से भरी हुई है। अपनी यात्रा के विषय में स्वयं फाहयान् ने कहा है, "जब पीछे मुड़कर देखता हूं कि मैं कैसी स्थितियों से गुजरा तो मेरा हृदय स्वतः विचलित होने लगता है, और पसीना आने लगता है। मैंने इतने खतरों का सामना किया। बिना आगा-पीछा सोचे, बिना अपना ख्याल किए, मैंने अत्यन्त भयानक स्थानों को पार किया। यह सब इस-लिए कि मेरे सामने एक निश्चित उद्देश्य था।...मेरा जीवन ऐसी जगह था जहां मृत्यु निश्चित सी मालूम होती थी। किन्तु मैं इस सबके लिए तैयार था।"

सचमुच फाहयान की यात्रा बड़ी महान थी। चीन से चलकर भारत आने और फिर वापस चीन लौटने में फाहयान् को कुल

15 साल लगे। उसने छोटे-बड़े कुल तीस देशों की यात्रा की। यात्रा के दौरान ही अपने एक साथी की मृत्यु हो जाने तथा दूसरे साथियों द्वारा मौत के भय से बीच में ही चीन वापस लौट जाने के बाद भी उसने अपनी यात्रा जारी रखी। निश्चय ही फाहयान् का साहस महान था।

ऐसे विद्यानुरागी और साहसी यात्री को कौन स्मरण नहीं करना चाहेगा। उसके साहस की गाथा से इतिहास के पन्ने सदैव जगमगाते रहेंगे।

दिग्नाग

दिग्नाग का जन्म पांचवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में तमिल प्रदेश के कांची (वर्तमान कांजीवरम्) के पास एक गांव में हुआ था। उनके गांव का नाम 'सिंहवक्त्र' था। उनके पिता एक तमिल ब्राह्मण थे।

दिग्नाग बचपन से ही बड़ी कुशाग्र बुद्धि के थे। प्रारम्भ में उन्होंने वेदों तथा अन्य शास्त्रों की शिक्षा ग्रहण की। किन्तु उनके जिज्ञासु मन को इससे शान्ति नहीं मिली, और वह ज्ञान की तलाश में इधर-उधर भटकते रहे। इसी बीच नागदत्त नाम के एक बौद्ध-भिक्षु से उनका सम्पर्क हुआ। भिक्षु नागदत्त का उन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। 'नागदत्त' के शिष्य बनकर वह भिक्षु संघ में सम्मिलित हो गये, और उनसे बौद्ध शास्त्रों की शिक्षा लेने लगे।

किन्तु कहा जाता है कि बाद में किसी बात को लेकर उनका अपने गुरु से मतभेद हो गया, जिसके कारण उन्होंने मठ (बौद्ध-विहार) को छोड़ दिया। उसके बाद वह उत्तर भारत की ओर चले आये और प्रख्यात आचार्य वसुबन्धु के शिष्यों में शामिल हो गये। वसुबन्धु के पास रहकर उन्होंने त्रिपिटक का गम्भीर

अध्ययन किया। जल्दी ही वह विज्ञानवाद और न्यायशास्त्र में विशेष रूप से पारंगत हो गये।

अध्ययन पूरा करने के बाद दिग्नाग ने अपना सारा समय बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में लगाना शुरू किया। अनेक विरोधी मतावलम्बियों को उन्होंने शास्त्रार्थ में पराजित किया, और अनेक ग्रन्थों की रचना की।

दिग्नाग अधिकतर उड़ीसा में रहा करते थे तथा शास्त्रार्थ करने के लिये सारे उड़ीसा व महाराष्ट्र का भ्रमण किया करते थे। उन्होंने नालन्दा का भी भ्रमण किया था और वहां 'सुदर्जय' नाम के एक ब्राह्मण को शास्त्रार्थ में पराजित किया था।

दिग्नाग के अनेकों शिष्य हो गये थे। उनके शिष्यों में शान्तिरक्षित, कमलशील, शंकर स्वामी, धर्मकीर्ति और ईश्वरसेन आदि प्रमुख थे। दिग्नाग को नालन्दा के संघ स्थविर (प्रधान) धर्मपाल का समकालीन बताया गया है। धर्मपाल भी वसुबन्धु के शिष्य थे।

दिग्नाग ने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। इसके अलावा उन्होंने कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों की व्याख्याएं अथवा टीकाएं भी लिखीं। विज्ञानवाद और व्याख्या ग्रन्थों के अलावा 'न्याय' के क्षेत्र में दिग्नाग अद्भुत महारथी थे। यद्यपि दिग्नाग से पहले भी दो बड़े नैयायिक हुए है, वे है—नागार्जुन और वसुबन्धु। किन्तु न्याय (तर्कशास्त्र) को स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित करने का सारा श्रेय दिग्नाग को ही जाता है। न्याय (तर्कशास्त्र) के क्षेत्र में उनके विशेष योगदान के कारण उनको 'मध्यकालीन न्याय-शास्त्र का पिता' कहा जाता है।

जवीनभर अध्ययन, लेखन और शास्त्रार्थ में लगे रहने के उपरान्त उड़ीसा में ही उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

परमार्थ

सन् 498 ई० की बात है। पश्चिमी भारत में 'उज्जैन' नामक नगर में एक सुसंस्कृत ब्राह्मण परिवार में एक बालक का जन्म हुआ। बड़ा होकर यह बालक 'परमार्थ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परमार्थ का दूसरा नाम 'कुलनाथ' भी था।

'परमार्थ' बचपन से ही बड़े प्रतिभाशाली थे। बहुत थोड़ी उम्र में ही उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन कर लिया था, लेकिन उनकी ज्ञान-पिपासा शान्त नहीं हुई। उन्होंने तब बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया। बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से उनके ज्ञान की प्यास शान्त हुई और उनको एक दिशा मिली। जल्दी ही ये बड़े भारी विद्वान हो गये थे। साहित्य और कला के भी वह पण्डित थे।

अध्ययन पूरा करने के बाद वह भ्रमण के लिये निकल पड़े। घूमते-घूमते वह पाटलीपुत्र (आज का पटना) पहुंचे। पाटलीपुत्र 'गुप्त' राजाओं की राजधानी थी। उस समय 'जीवगुप्त' अथवा 'कुमार गुप्त' शासन कर रहा था। गुप्त राजा ने परमार्थ का बड़ा सत्कार किया और वह वहीं रहने लगे।

चीन में 'लियांग-वंश' के सम्राट 'लियांग-वू-ती' ने बौद्ध ग्रन्थों तथा किसी बड़े बौद्ध विद्वान की खोज के लिये एक शिष्ट-मण्डल

भारत को भेजा। सन् 539 ई० में यह दूत-मण्डल मगध पहुंचा। उसे दूत-मण्डल के साथ 'कम्बोज' का राजदूत भी था, जो चीन से अपने देश जा रहा था। उन दिनों परमार्थ की बड़ी ख्याति थी। चीनी दूत-मण्डल ने परमार्थ से चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार करने का अनुरोध किया। परमार्थ तैयार हो गये और गुप्त सम्राट ने चीनी सम्राट की प्रार्थना को सहर्ष स्वीकार करके बहुत सारे ग्रन्थों के साथ परमार्थ को चीन भेज दिया। सिंहल, जावा, हिन्दचीन होते हुये परमार्थ 546 ई० में नानकिङ्, पहुंचे। सम्राट ने उनका बड़ा स्वागत किया। एक सुन्दर प्रासाद (कोष मेघ महल) में उनके रहने की व्यवस्था की गई और धर्म का उपदेश करने की अनुमति दी।

सम्राट की बड़ी प्रबल इच्छा थी कि भारतीय ग्रन्थों का तेजी से चीनी भाषा में अनुवाद हो ताकि चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार तेजी से हो सके। लेकिन वह राजनीतिक अशान्ति और उथल-पुथल का दौर था। राजनीतिक अशान्ति के कारण धर्म प्रचार का कार्य सम्भव न हो सका और परमार्थ को अपने ग्रन्थों के साथ दक्षिण की ओर जाना पड़ा। वहां के शासक ने न केवल परमार्थ को आश्रय प्रदान किया बल्कि अनुवाद कार्य के लिये उनको बहुत से सहायक भी दिए।

लेकिन शीघ्र ही क्रान्ति की आग वहां भी पहुंच गई। परमार्थ वापस राजधानी नानकिङ्, लौट आये और वहां पर अपने शिष्यों सहित एक विहार में रहने लगे।

557 ई० में वहां नये राजवंश का शासन स्थापित हुआ। 558 ई० में परमार्थ कई जगहों को गये। देश की अवस्था अभी भी पूर्णतः शान्त नहीं थी। परमार्थ बर्मा जाना चाहते थे लेकिन उनके शिष्य उनसे बहुत स्नेह रखते थे। उनके आग्रह के कारण परमार्थ चीन छोड़कर नहीं जा सके। वह नान-यू में ठहरकर

अपने शिष्यों की सहायता से पुराने अनुवादों का संशोधन करने लगे। नानकिङ् के कुछ भिक्षु और नागरिकों ने उनसे वहां चलकर उपदेश करने का अनुरोध किया। परमार्थ ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और कई साल तक वहां रहकर उपदेश देते रहे।

अब परमार्थ को अपनी जन्म भूमि बार-बार याद आने लगी थी। उन्होंने अपने देश (भारत) लौटने का निश्चय किया। 561 ई० में तिरसठ वर्ष की आयु में वह एक नौका में बैठकर लियांग-आन बन्दरगाह गये। किन्तु वहां के मजिस्ट्रेट तथा भिक्षुओं और नागरिकों के अनुरोध पर उन्हें कुछ दिन तक वहां रुक जाना पड़ा। परमार्थ जब दूसरे जहाज पर चढ़कर आगे चले तो हवा का रुख बदल गया और उनको मजबूरन कैंटन के पास उतरना पड़ा। वहां के शासक के आग्रह पर परमार्थ बहुत दिनों तक वहीं पर भिक्षुओं और गृहस्थों को उपदेश देते रहे। शासक की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी ने भी परमार्थ को पूर्ववत् सहायता जारी रखनी चाही। किन्तु परमार्थ स्वयं को बहुत कमजोर अनुभव करने लगे थे। दुनियां की अशान्ति से उनका हृदय भी अशान्त हो उठा था। उन्होंने आत्महत्या करनी चाही किन्तु समय पर पता चल जाने के कारण उनको ऐसा करने से रोक लिया गया। परमार्थ फिर से आत्महत्या का प्रयास न करें इसके लिए शासक ने उनकी देखभाल के लिए आदमी नियुक्त कर दिये।

परमार्थ ने आत्महत्या का प्रयास तो फिर कभी नहीं किया लेकिन वे अन्दर ही अन्दर टूटते गये, और सारी सावधानी और शिष्यों की सेवा के होते हुये भी 569 ई० में 11 जनवरी को 71 वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। कैंटन में उनके अवशेषों पर उनके शिष्यों ने स्तूप बनाया और फिर अपने गुरु की

कृतियों को लेकर वे दक्षिण चीन से उत्तरी चीन की ओर चले गये।

परमार्थ, कुमारजीव के बाद सबसे बड़े भारतीय अनुवादक थे। परमार्थ ने अपने जीवन के चौबीस वर्ष चीन में व्यतीत किए। इस अवधि मे उन्होंने लगभग 70 ग्रन्थों का सस्कृत से चीनी भाषा मे अनुवाद किया।

परमार्थ बड़े भारी विद्वान और कुशल उपदेशक थे। उनका बड़ा आदर था। यह इसी से पता चलता है कि चीन में इतनी बड़ी राजनीतिक उथल-पुथल होने के उपरान्त भी परमार्थ का उपदेश सुनने के लिए बड़ी भारी संख्या मे लोग इकट्ठे होते थे। बौद्ध साहित्य के इतिहास में परमार्थ का नाम सदा अमर रहेगा।

धर्मकीर्ति

धर्मकीर्ति का जन्म छठी शताब्दी में चोल प्रान्त (उत्तरी तमिल) के तिरूमल्लै (या तिरूमलई) नाम के एक ग्राम में हुआ था। इनके पिता एक ब्राह्मण थे और उनका नाम 'कोरुनन्द' अथवा 'पोरुनन्द था।'

धर्मकीर्ति की प्रतिभा बचपन से ही बड़ी विलक्षण थी। अपने कुल की परम्परा के अनुसार इन्होंने पहले ब्राह्मणों के शास्त्रों और वेद-वेदांगों का अध्ययन किया। कहा जाता है कि इनके मन में ज्ञान प्राप्त करने की बड़ी प्रबल भूख थी। ब्राह्मण-दर्शनों का अध्ययन करने के लिए ये अपने मामा 'कुमारिल भट्ट' के घर रहे और उनके यहां सेवक बनकर काम किया। उल्लेखनीय है कि कुमारिल भट्ट मीमांसा दर्शन के बड़े भारी विद्वान थे। कुमारिल से इन्होंने बहुत कुछ सीखा, किन्तु इनके ज्ञान की भूख को कुमारिल शान्त नहीं कर सके। धर्मकीर्ति उच्चज्ञान की प्राप्ति हेतु निरन्तर लगे रहे।

यह वह समय था जब बौद्ध धर्म की पताका चारों ओर लहरा रही थी। नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु और दिग्नाग प्रभृति विद्वानों का दर्शन चारों ओर प्रतिष्ठित था। ज्ञान की खोज में भटकते धर्मकीर्ति को बौद्ध दर्शन और शास्त्रों के विषय में

जानने का अवसर मिला। वह बौद्ध दर्शन से इतने अधिक प्रभावित हुए कि बौद्ध-गृहस्थों के वेश में घर से बाहर आने-जाने लगे। कहते हैं कि उनका इस तरह का आचरण ब्राह्मणों को अच्छा नहीं लगा और उन्होंने धर्मकीर्ति का समाज से बहिष्कार कर दिया।

उस समय एक विद्या केन्द्र के रूप में नालन्दा की ख्याति दूर देशों तक फैली हुई थी। धर्मकीर्ति चोल प्रान्त को छोड़कर नालन्दा चले गए। नालन्दा जाकर धर्मकीर्ति उस समय के महान विज्ञानवादी दार्शनिक तथा नालन्दा के संघ-स्थविर (प्रधानाचार्य) धर्मपाल के शिष्य बनकर भिक्षु संघ में सम्मिलित हो गए।

यह भी कहा जाता है कि धर्मकीर्ति, दिग्नाग के शिष्य ईश्वरसेन के शिष्य थे और ईश्वरसेन से इन्होंने 'न्यायशास्त्र' की शिक्षा ग्रहण की थी। यद्यपि इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है कि धर्मकीर्ति, धर्मपाल के शिष्य थे या ईश्वसेन के। किन्तु लगता यह है कि धर्मकीर्ति पहले धर्मपाल के शिष्य बनकर भिक्षु संघ में सम्मिलित हुए हों और पहले धर्मपाल से ही 'विज्ञानवाद' की शिक्षा ग्रहण की हो, तथा बाद में ईश्वरसेन से उन्होंने न्यायशास्त्र की शिक्षा ग्रहण की हो।

धर्मकीर्ति ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। ये तार्किक विद्वान थे और इनके ग्रन्थ मुख्यत. प्रमाणशास्त्र (तर्कशास्त्र) पर हैं। धर्मकीर्ति बड़े प्रचण्ड विद्वान थे तथा बड़े-बड़े विद्वान भी इनकी विद्वता और तर्क-ज्ञान का लोहा मानते थे। धर्मकीर्ति के तर्क इतने अकाट्य होते थे कि इनके तर्कों का उनके प्रतिद्वंद्वियों के पास कोई जवाब नहीं होता था। अपने ज्ञान और तर्क-शक्ति के बल पर अपने प्रतिद्वंद्वियों के तर्कों को इन्होंने छिन्न-भिन्न कर दिया था।

यद्यपि दिग्नाग को मध्यकालीन न्यायशास्त्र का पिता कहा जाता है लेकिन दिग्नाग के दर्शन को उसके उच्चतर शिखर तक ले जाने का महान कार्य धर्मकीर्ति ने ही किया। उनके ग्रन्थों का बहुत बड़ी संख्या में तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ। तिब्बती भाषा में मूल संस्कृत के जितने भी बौद्ध-न्याय से संबंधित ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है उनमें सर्वाधिक संख्या धर्मकीर्ति के ग्रन्थों की है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार, 'धर्मकीर्ति के ग्रन्थ कितने महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे यह इसी से पता चलता है कि तिब्बती भाषा में अनुवाद किए गए बौद्ध-न्याय के कुल संस्कृत ग्रन्थों के 1,75,000 श्लोकों में से 1,37,000 धर्मकीर्ति के ग्रन्थों का टीका-अनुटीकाओं के है।'

तर्कशास्त्र को पृथक ज्ञान-क्षेत्र के रूप में स्थापित करने में धर्मकीर्ति का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

धर्मकीर्ति के अनेक शिष्य थे। अन्य बौद्ध आचार्यों की भांति उनकी शिष्य परम्परा भी काफी लम्बी है।

ह्वेन्सांग

ह्वेन्सांग का जन्म 602 ई० में उत्तरी चीन के होनान प्रान्त में 'कोउ-शिह' नामक स्थान पर एक कन्फयूसी परिवार में हुआ। उसके पिता का नाम 'चेन-हुई' था, जो एक चीनी विद्वान था। ये कुल चार भाई थे। ह्वेन्सांग सबसे छोटा था। उसका गोत्र नाम चेने था और उसका स्वयं का नाम यी था। इस तरह उसका नाम 'चेन-यी' था। ह्वेन्सांग उसका बौद्ध नाम था और बाद में इसी नाम से वह संसार में प्रसिद्ध हुआ। बचपन से ही वह बहुत प्रखर बुद्धि का था। अपने पिता से कन्फ्यूसी ग्रन्थों की शिक्षा प्राप्त की। उसका दूसरे नम्बर का बड़ा भाई बौद्ध विहार में जाया करता था। ह्वेन्सांग भी अपने भाई के साथ बौद्ध-विहार गया। ह्वेन्सांग की मेधा और प्रतिभा को देखकर 13 वर्ष की अवस्था मे ही उसे नव-शिष्य बना लिया गया।

ह्वेन्सांग ने बड़े मनोयोग से बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया। बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन में उसका इतना मन लगा कि वह खाना और सोना तक भूल गया। बौद्ध दर्शन के अध्ययन के लिए अपने भाई के साथ वह विभिन्न विहारों में भी गया। बीस वर्ष की अवस्था में वह भिक्षु हो गया। उसने शाक्य मुनि भगवान गौतम बुद्ध की जन्मभूमि 'भारत' को देखने और वहां के विद्वान

भिक्षुओं से विद्या सीखने के लिए एक भिक्षु दल के साथ भारत जाना चाहा। किन्तु सम्राट ने आज्ञा नहीं दी। ह्वेन्सांग को निराशा जरूर हुई, लेकिन वह हतोत्साहित नहीं हुआ। उसका भारत जाना सद्धर्म के हित में जरूरी था। राज्य शासक की अवज्ञा की चिन्ता किए बिना उसने भारत जाने का दृढ़ निश्चय कर लिया और सन् 629 ई० में वह अकेला ही भारत यात्रा के लिए निकल पड़ा। इस समय ह्वेन्सांग की उम्र 26 वर्ष की थी।

चीन से चलकर वह मध्य एशिया पहुंचा। मध्य एशिया में बहुत ऊंचे-ऊंचे पर्वत और दूर-दूर तक रेगिस्तान फैला था। वहां न तो एक चिड़िया दिखाई पड़ती थी और न कोई चौपाया जानवर। न वहां जल था, न हरियाली। लेकिन ह्वेन्सांग ऊंचे हौसले के साथ यात्रा के लिए निकला था। वह घबड़ाया नहीं। कई दिन की कठिन यात्रा के बाद वह 'तुर्फान' पहुंचा। 'तुर्फान' के राजा ने उसका बड़ा सम्मान किया। यहां दो महीने रहकर उसने धर्म का अध्ययन किया।

'तुर्फान' से चलकर वह 'कूचा' को गया। कूचा में उस समय 'सुवर्णदेव' नाम का राजा राज्य कर रहा था। सुवर्णदेव ने भी उसका बड़ा सत्कार किया। कूचा से चलकर विभिन्न पर्वतों और नदियों को पार करके 'समरकन्द' होता हुआ वह दक्षिण की ओर गया, और फिर बैक्ट्रिया राज्य (आधुनिक अफगानिस्तान का उत्तरी भाग) में पहुंचा। बैक्ट्रिया के बाद उसने हिन्दुकुश पर्वत को पार किया। हिन्दुकुश पर्वत को पार करने में ह्वेन्सांग को सबसे ज्यादा कठिनाई का सामना करना पड़ा। हिन्दुकुश के बारे में ह्वेन्सांग ने बतलाया है कि, 'वहां मार्ग रेगिस्तानों और वर्फील

देशों से दूना कठिन था। बादलों और बर्फ की धुन्ध के कारण कुछ भी स्पष्ट दिखलाई नहीं पडता था। समतल तो न के बराबर था। इन पर्वतों पर इतनी बर्फ थी कि हजारों 'ली' (हमारे किलो मीटर या मील की तरह 'ली' भी मापन की चीनी इकाई है) तव वर्फ का तूफान चला करता था।

इस कठिन यात्रा के दौरान ह्वेन्सांग कई वार मृत्यु के मुख में जाने से वाल-वाल बचा। अन्त में कारकोत्तल और दंदाने-शिकन दर्रों को पार करके वह वामियान पहुंचा। वामियान के बौद्ध-विहारों में कई हजार धर्मार्थी और भिक्षु रहते थे।

वामियान से चलकर उसने 'शिवर' दर्रे को पार किया। यह दर्रा 9000 फीट की ऊंचाई पर था। उसके वाद वह गंधार पहुंचा। ह्वेन्सांग से 200 वर्ष पूर्व फाह्यान् भी यहां आया था। प्राचीन इतिहास में गंधार वड़ा प्रसिद्ध स्थान रहा है। यहां से चलकर ह्वेन्सांग ने काबुल नदी पार की और सबसे पहले पंजाब की महानगरी तक्षशिला को देखने गया। तक्षशिला बौद्ध-शिक्षा का वड़ा प्रसिद्ध केन्द्र था।

तक्षशिला के वाद ह्वेन्सांग कश्मीर की राजधानी प्रवरपुर (आज का श्रीनगर) पहुंचा। कश्मीर का राजा ह्वेनसांग से मिलने स्वयं आया था। वह ह्वेन्सांग से वहुत प्रभावित हुआ। उसने ह्वेन्सांग को वहुत सारे बौद्ध ग्रन्थ उपलब्ध कराए। 631 ई० से 633 ई० तक, दो वर्षों में उसने बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया।

कश्मीर से चलकर ह्वेन्सांग सबसे पहले साकल (आज का स्यालकोट, जो अब पाकिस्तान में है) पहुंचा। यहां एक वर्ष से

भी अधिक समय रहकर वह जालन्धर गया। उस समय जालन्धर भी एक महत्वपूर्ण बौद्ध केन्द्र था। फिर वह मथुरा होता हुआ थानेश्वर गया, फिर वह कान्यकुब्ज (आज का कन्नौज) पहुंचा। कन्नौज के राजा ने उसका बड़ा सम्मान किया। कन्नौज नगर की सुन्दरता देखकर वह चकित रह गया। उस समय कन्नौज में सम्राट हर्षवर्धन राज्य कर रहा था। वह एक बौद्ध शासक था।

कन्नौज में तीन महीने बिताकर ह्वेन्सांग अयोध्या की ओर गया। अयोध्या से कौशाम्बी (आज के इलाहाबाद के निकट एक स्थान) होता हुआ वह श्रावास्ती गया। तदुपरान्त वह बुद्ध के जन्म-स्थान 'कपिलवस्तु' पहुंचा। यहां पर कपिलवस्तु के उत्तर-पूर्व में 'लुम्बिनी' नामक उपनगर था। लुम्बिनी उद्यान में ही बुद्ध का जन्म हुआ था। बुद्ध का परिनिर्वाण स्थल 'कुसीनगर' भी उसी क्षेत्र में स्थित है। कपिलवस्तु के बाद ह्वेन्सांग कुसीनगर गया। कुसीनगर के बाद वह बनारस आया और फिर वैशाली पहुंचा।

वैशाली के बाद ह्वेन्सांग बौद्धगया होता हुआ नालन्दा पहुंचा। 'नालन्दा' बौद्ध विद्या का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र था। ह्वेनसांग का यहां बड़ा सत्कार हुआ। कहते हैं कि पताकाओं, छत्रों, धूप और पुष्पों के साथ दो सौ भिक्षुओं और एक हजार उपासकों ने एक जुलूस बनाकर ह्वेन्सांग का स्वागत किया। नालन्दा में ह्वेन्सांग ने कई वर्ष रहकर आचार्य शीलभद्र से शिक्षा प्राप्त की। इसी बीच ह्वेन्सांग राजगृह भी गया।

नालन्दा के बाद ह्वेन्सांग पाटलीपुत्र (आज का पटना) गया। पाटलीपुत्र के बाद वह बौद्ध धर्म के हृदय 'बौद्ध-गया' पहुंचा। वहां उसने 'बोधिवृक्ष के दर्शन किए। फिर वह ताम्रलिप्ति पहुंचा और

वहां से भागलपुर-उड़ीसा और आन्ध्र होता हुआ कांचीवरम् गया। फिर वह महाराष्ट्र आया, और फिर भरोछ, मालवा, गुजरात, सिन्ध, मुल्तान होता हुआ फिर नालन्दा पहुंचा। नालन्दा में फिर कुछ दिन बिताकर वह कामरूप गया। वहां के शासक 'शीलादित्य हर्ष' ने ह्वेन्सांग का बड़ा स्वागत किया और श्रद्धा के साथ उसके चरणों का चुम्बन किया।

634 ई० में ह्वेन्सांग ने चीन वापस लौटने का विचार बनाया। हर्ष ने ढेर सारे उपहारों के साथ ह्वेनसांग को स्वदेश के लिए विदा किया। कौशाम्बी के रास्ते वह कन्नौज के उत्तर में बिलसर पहुंचा और वर्षा के दो माह वहां बिताए। जालंधर और तक्षशिला होते हुए, अपने पुराने मार्ग से उसने पंजाब पार किया। सिन्धु नदी पार करके वह गंधार पहुंचा। गंधार के सामन्तों ने ह्वेन्सांग का बड़ा सम्मान किया।

कपिसा (गंधार प्रदेश की एक रियासत) के राजा से विदा होकर ह्वेन्सांग ने हिन्दुकुश और पामीर के रास्ते काशगर की ओर प्रस्थान किया। 'काशगर' से चलकर विभिन्न स्थानों को होता हुआ वह चांगआन पहुंचा।

इस तरह 16 वर्ष की यात्रा के बाद बौद्ध धर्म से सम्बन्धित तीर्थों तथा अन्य सैकड़ों स्थानों को देखकर, बीस हजार मील चलने के बाद 645 ई० में ह्वेन्सांग स्वदेश लौटा। अपनी यात्रा के 16 वर्षों में से 10 वर्ष उसने भारत में बिताए और यहां से 657 बौद्ध ग्रन्थों का संग्रह करके अपने साथ ले गया।

चीन में ह्वेन्सांग का एक विजेता की भांति स्वागत हुआ।

पताकाओं और झण्डों से स्वागत करके उसे 'महासुख-विहार' में ले जाया गया। चीन के सम्राट ताई-त्सुंग, जिसके आदेश की अवहेलना करके ह्वेन्सांग भारत चला गया था, ने भी ह्वेन्सांग के सम्मान में अपने राजमहल में एक स्वागत समारोह आयोजित किया था। मानवता के कल्याण के लिए अपने जीवन को खतरे में डालने के लिए सम्राट ने ह्वेन्सांग को साधुवाद दिया।

अपना शेष जीवन ह्वेन्सांग ने 'महाकरुण अनुकंपा-विहार' में बिताया और अपने शिष्यों के साथ मिलकर भारत से लाए बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करता रहा। उसने कुल 75 ग्रन्थों का अनुवाद किया था। सम्राट के अनुरोध पर ह्वेन्सांग ने अपना यात्रा विवरण भी लिखा।

65 वर्ष की अवस्था में 664 ई० में ह्वेन्सांग की जीवन यात्रा का अन्त हुआ। महाकरुण अनुग्रह-विहार में असाधारण सम्मान के साथ इस महान यात्री को समाधि दी गई। महान धर्मनायक, अद्भुत विद्वान तथा मानवता के कल्याण के लिए अपने जीवन को दाव पर लगाने वाले ह्वेन्सांग का नाम विश्व के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

इत्सिंग

बौद्ध धर्म भारत में पैदा हुआ और फिर दुनियां भर में फैला। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए भारत से बौद्ध भिक्षु विदेशों को गए और विदेशों से अनेक भिक्षु अध्ययन और ग्रन्थ संग्रह के लिए भारत आये। इन विदेशी यात्रियों में से फाह्यान्, ह्वेन्सांग और इत्सिंग प्रमुख थे। फाह्यान् और ह्वेन्सांग का परिचय हम पीछे दे चुके हैं। यहां इत्सिंग का परिचय दिया जा रहा है।

इत्सिंग का जन्म 634 ई० में फान-यांग के सम्राट ताई-त्सुग के शासन काल में हुआ था। सात वर्ष की अवस्था में ही वह बौद्धधर्म में दीक्षित हो गया था। साधारण शिक्षा के बाद उसने बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन शुरू किया, और चौदह वर्ष की अवस्था में वह भिक्षु हो गया। भारत उन दिनों बौद्ध धर्म और शिक्षा का केन्द्र था। भगवान बुद्ध की जन्म भूमि होने के कारण भारत को 'पुण्य भूमि' माना जाता था और विदेशियों के मन में भारत जाकर बौद्ध तीर्थों के दर्शन करने तथा यहां रहकर बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन करने की बड़ी लालसा होती थी। अट्ठारह वर्ष की आयु होते-होते इत्सिंग के मन में भारत जाने की इच्छा पैदा हुई। अध्ययन के बाद पर्यटन का क्या महत्व है, यह ह्वेन्सांग के जीवन से वह अच्छी तरह जान चुका था। सात वर्ष पहले ही

ह्वेन्सांग भारत को यात्रा से लौटा था। चीन के सम्राट और जनता ने उसका कितना सम्मान किया था और उसको कितना ऊंचा स्थान प्राप्त हो गया था, इत्सिंग ने यह सब देखा था। ह्वेन्सांग की मृत्यु के बाद उसके परिव्राण सस्कार में सम्राट स्वयं शामिल हुआ था, इत्सिंग ने यह भी जरूर देखा या सुना होगा। ह्वेन्सांग जितना ही सम्मान पाने की लालसा उनके मन में भी जरूर पैदा हुई होगी। इसलिए भारत जाने की उसकी इच्छा दिन-प्रतिदिन दृढ़ होती गई। लेकिन उसकी इच्छा कुछ दिनों के लिए दब गई या उसने स्वयं दबा दी और अगले उन्नीस वर्षों तक निरन्तर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। इत्सिंग साधारण पर्यटक नहीं बनना चाहता था। वह फाहयान् और ह्वेन्सांग जैसा पर्यटक बनना चाहता था। उसकी इच्छा उन्नीस वर्ष बाद पूरी हुई। सन् 671 ई० में 37 वर्ष की अवस्था में उसकी यात्ता का शुभारम्भ हुआ।

इत्सिंग के समय भारत के साथ चीन का मधुर सम्बन्ध था। चीन से तीर्थयात्री भारत में आया-जाया करते थे इन्हीं यात्रियों के एक दल के साथ इत्सिंग ने भी भारत की यात्ता शुरू की। वह कैंटन (या कांतन) नामक स्थान पर पहुंचा और वहां से एक पारसीक नौका (या पानी का जहाज) में सवार होकर बीस दिन की यात्ता के बाद 'श्री विजय' (सुमात्रा) पहुंचा। यहां वह छः महीने ठहरा, और दो महीने 'मलाया' में रुका। उसके बाद उसने बंगाल की खाड़ी पार की और 637 ई० में ताम्रलिप्ति (आज का बंगाल, इसे तामलुक भी कहते थे) के बन्दरगाह में उतरा। भारत के भीतर अपनी यात्रा आगे बढ़ाने से पहले उसने संस्कृत भाषा का ज्ञान बढ़ाना उचित समझा। ताम्रलिप्ति में वह एक वर्ष ठहरा और वहां रहकर उसने संस्कृत भाषा और साहित्य का

अध्ययन किया।

फिर इत्सिंग ने बौद्ध तीर्थ-स्थलों की यात्रा शुरू की। सबसे पहले वह बौद्ध-गया और कुशीनगर को गया, और फिर नालन्दा पहुंचा। नालन्दा, बौद्ध-विद्या का बड़ा प्रसिद्ध केन्द्र था। नालन्दा में ठहरकर उसने बौद्ध विद्या का गम्भीर अध्ययन किया और लगभग चार सौ बौद्ध ग्रन्थों का संग्रह किया। इत्सिंग भारत के बहुत से धार्मिक स्थलों में गया, किन्तु सबसे ज्यादा समय उसने नालन्दा में बिताया।

नालन्दा में दस वर्ष तक रहने और विद्याध्ययन के बाद इत्सिंग अपने देश की ओर लौटा। 685 ई० में ताम्रलिप्ति से चलकर वह सिंहल (श्रीलंका) पहुंचा। श्रीलंका में वह कई वर्ष ठहरा। 689 ई० में वह 'सुमात्रा' पहुंचा। सुमात्रा, महायान बौद्ध धर्म का गढ़ था और बौद्ध विद्या के लिए प्रसिद्ध था। बहुत से विद्वान वहां रहते थे। इत्सिंग ने सुमात्रा में रहकर संस्कृत और पाली के बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन और उनका चीनी भाषा में अनुवाद का कार्य करना चाहा किन्तु इतना बड़े कार्य को करना एक आदमी के बलबूते पर सम्भव नहीं था। अतः सहायकों की खोज में वह चीन गया। वहां वह केंटन में उतरा और अपने शिष्यों को एकत्र करके चार महीने बाद फिर सुमात्रा वापस आ गया।

सुमात्रा में वह छः वर्ष (689 ई० से 695 ई० तक) रहा। इन छः वर्षों में उसने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उसने 120 महत्वपूर्ण संस्कृत शब्दों का एक कोश भी तैयार किया। 695 ई० में साठ साल की उम्र में वह स्वदेश लौटा और वहां के 'परमसुख मठ' में रहने लगा। कुछ समय तक वह तांग वंश की राजधानी च्यांग-आन स्थित 'पश्चिमी उज्जवल मठ' में भी रहा।

इत्सिंग ने 230 खण्डो में कुल 56 ग्रन्थों का अनुवाद किया। उसने कई स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे। 671 ई० से 695 ई० तक 25 वर्षो में इत्सिंग ने 130 देशों का भ्रमण किया। उसकी भारत यात्रा और दक्षिणी टापुओं में जाने का मुख्य उद्देश्य विनय (बौद्ध-ग्रन्थों) का संग्रह करना था। इत्सिंग का सबसे बड़ा काम है—मूल सर्वास्तिवादी पिटक का चीनी में अनुवाद। चीनी त्रिपिटक में इसकी 12 जिल्दें हैं। कहा जाता है कि इस पिटक के अनुवाद के लिए इत्सिंग की अध्यक्षता मे 54 विद्वान सात वर्ष (703-710 ई०) तक लगे रहे। नागार्जुन द्वारा सातवाहन राजा को लिखे सुहृलेख (घनिष्ठ मित्र को पत्र) का भी इत्सिंग ने अनुवाद किया।

सन् 713 ई० में 97 वर्ष की आयु में इत्सिंग का देहान्त हुआ। उसके कार्य के लिए न केवल उसके समकालीन सम्राट चुंग-त्युंग ने ही उसकी बड़ी प्रशंसा की है, बल्कि बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के हित में उसके कार्य की सबने सराहना की है। बौद्ध धर्म और संस्कृति के प्रेमियों के मन में इत्सिंग के प्रति बड़ा आदर है।

शान्तिरक्षित

शान्तिरक्षित का जन्म सातवी शताब्दी में वर्तमान बिहार प्रान्त के अन्तर्गत एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके गांव का नाम 'सहीर' था, जो भागलपुर के पूर्वी भाग में स्थित था। शान्तिरक्षित का बचपन का नाम कुछ और था, उनका यह नाम (शान्तिरक्षित) बाद में पड़ा था। भागलपुर का निवासी होने के कारण इनका एक नाम 'भगल' भी पड़ गया था।

अन्य बौद्ध आचार्यों की तरह इन्होंने भी पहले-पहल ब्राह्मण ग्रन्थों का ही अध्ययन किया था और उनके पण्डित हो गए थे। लेकिन इससे उनके ज्ञान की भूख शान्त नहीं हुई। नालन्दा, बौद्ध-विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र था। उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। ज्ञान की तलाश में शान्तिरक्षित नालन्दा चले गए, और वहां रहकर बौद्ध धर्म का अध्ययन करने लगे। 675 ई० में इन्होंने 'आचार्य ज्ञानगर्भ' मे बौद्ध धर्म की प्रव्रज्या ली। प्रव्रज्या के बाद इनका नाम 'शान्तिरक्षित' पडा।

जिस समय शान्तिरक्षित, नालन्दा में बौद्ध धर्म का अध्ययन कर रहे थे, उसी समय चीनी यात्री 'इत्सिंग' भी वहां बौद्ध धर्म का अध्ययन तथा पाण्डुलिपि तैयार कर रहा था। ये दोनों सहपाठी थे और 'नालन्दा' के प्रमुख विद्यार्थियों मे से थे। बड़े अद्भुत दार्शनिक थे। ब्राह्मण ग्रन्थों के वह विद्वान

थे ही, बाद में बौद्ध जैन सभी दर्शनों के भी प्रकाण्ड विद्वान हो गए थे। भारत के अन्दर तथा बाहर भी उनका बड़ा सम्मान था। उनकी विद्वता से प्रभावित होकर तिब्बत के राजा ने उनको तिब्बत आने का निमन्त्रण दिया। शान्तिरक्षित के मन में धर्म के प्रति समर्पण और त्याग की बड़ी प्रबल भावना थी। यह इसी से पता चलता है कि तिब्बत के राजा ने जब उनको बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए तिब्बत बुलाया तब उनकी आयु 75 वर्ष की थी। किन्तु धर्म की सेवा में लिए शान्तिरक्षित ने तनिक भी आलस्य नहीं दिखाया और 75 वर्ष की उम्र में भी वह हिमालय की दुर्गम घाटियों को पार करके तिब्बत जाने को तैयार हो गए। उनके इस त्याग के कारण उनका नाम 'बोधिसत्व' पड़ गया था। आज भी तिब्बत के अधिकांश लोग उन्हें आचार्य शान्तिरक्षित की जगह 'बोधिसत्व शान्तिरक्षित' के नाम से ही ज्यादा जानते हैं।

शान्तिरक्षित 724 ई० में नेपाल के रास्ते तिब्बत पहुंचे। वहां पहुंचकर उन्होंने धर्मोपदेश का कार्य आरम्भ कर दिया। बौद्ध धर्म के भिन्न-भिन्न विषयों पर उन्होंने कई उपदेश दिए। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर बहुत से लोगों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। किन्तु दुर्भाग्यवश उसी समय वहां महामारी का रोग फैल गया। वहां के पाखण्डी लोगों ने इस बीमारी को भूतों का प्रकोप बताया और यह प्रचार शुरू कर दिया कि राजा एक भारतीय भिक्षु के द्वारा नया धर्म फैला रहा है, इसी कारण भूतों का प्रकोप बढ़ रहा है। इस प्रचार से जनता में राजा के प्रति बड़ा असन्तोष फैल गया और विद्रोह की स्थिति आ गई। ऐसी स्थिति में शान्तिरक्षित ने राजा से सलाह करके तिब्बत से बाहर जाना उचित समझा और शान्तिरक्षित नेपाल लौट आए।

बाद में तिब्बत की स्थिति सामान्य हो गई और तिब्बत के राजा ने दो वर्ष पश्चात शान्तिरक्षित को पुनः तिब्बत बुलाया।

राजा की इच्छा थी कि तिब्बत में भी भिक्षुओं को दीक्षित किया जाए। लेकिन भिक्षुनियम के अनुसार भिक्षु बनाना संघ (भिक्षु-संघ) का काम था। कोई एक व्यक्ति भिक्षु नहीं बना सकता था। इसलिए तिब्बत के लोगों को भिक्षु बनाकर संघ की स्थापना करने के उद्देश्य से शान्तिरक्षित ने नालन्दा के कुछ और विद्वान भिक्षुओं को तिब्बत में बुलाया। शान्तिरक्षित के सहायक बनकर तिब्बत में नालन्दा से जो विद्वान गए उनमें पद्मसंभव, सुमतिसेन और कमलशील के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी विद्वानों की सहायता से शान्तिरक्षित ने तिब्बत में भूतों के पाखण्ड को रोका तथा तिब्बती लोगों को भिक्षु बनाकर संघ की स्थापना की।

यद्यपि शान्तिरक्षित से सौ वर्ष पहले ही बौद्ध धर्म का तिब्बत में प्रवेश हो चुका था लेकिन तब तक न तो तिब्बत में कोई बौद्ध भिक्षु बना था और न वहां पर कोई मठ (बौद्ध-विहार) ही बना था।

राजा की इच्छा थी कि तिब्बत में बौद्ध विहार बने। इसके लिए शान्तिरक्षित ने 'लहासा' के दक्षिण में बौद्ध-विहार के निर्माण के लिए भूमि चुनी और बौद्ध विहार की नींव डाली। बारह वर्षों में यह विहार बनकर तैयार हुआ। इस विहार के निर्माण में काफी श्रम और धन लगा। बौद्ध-विहार के बीच भाग में प्रधान विहार (मन्दिर) था और चारों ओर भिक्षुओं के निवास के लिए कमरे। एक ऊंची दीवार से सारा संघाराम घिरा हुआ था। चारों दिशाओं में प्रवेश के लिए चार फाटक थे। कहते हैं कि जिस समय 'साम्य' नाम का यह बौद्ध-विहार बनकर तैयार

हुआ होगा, अपनी बनावट के कारण उस समय वह बडी अद्भुत चीज रहा होगा। लेकिन दुर्भाग्य से बारहवीं शताब्दी में किसी असावधानी के कारण उसमें आग लग गई, जिससे उसका बहुत सा भाग जल गया। लेकिन बाद में उसका पुनर्निर्माण करा दिया गया। शान्तिरक्षित और उनके सहायक विद्वान इसी महाविहार में रहते थे।

शान्तिरक्षित ने केवल उपदेशों के द्वारा ही तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार नहीं किया, बल्कि उन्होंने बहुत से बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया और कराया। इसके अलावा उन्होंने अनेक दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की। इस तरह बौद्ध धर्म के विकास में शान्तिरक्षित का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

सन् 762 ई० में घोड़े के पैर की टाप से घायल होकर इनका देहान्त हो गया। उस समय शान्तिरक्षित की आयु सौ वर्ष की थी। उनकी अस्थियों को 'साम्य-विहार' की पहाड़ी के शिखर पर रखा गया और उन पर एक स्तूप बनवाया गया। वह स्तूप साढ़े ग्यारह सौ वर्षों तक रहा। इस शताब्दी के शुरू में वह स्तूप जीर्ण हो जाने के कारण टूट गया और शान्तिरक्षित की अस्थियां नीचे गिर पड़ीं। बाद में उनका सिर, पात्र तथा चीवर आदि साम्य-विहार में रख दिए गए, जो आज तक सुरक्षित हैं और जिनके दर्शन करने आज भी अनेक बौद्ध वहां जाते हैं।

शान्तिरक्षित ने भारत में रहते हुए तथा तिब्बत में भी बौद्ध धर्म का खूब प्रचार-प्रसार किया। धर्म के प्रति त्याग और समर्पण की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी थी। तिब्बत में भिक्षु संघ

और बौद्ध-विहार की स्थापना करके उन्होंने वहां बौद्ध धर्म की नींव को दृढ़ किया। उन्होंने पद्मसंभव और कमलशील जैसे शिष्य भी दिए जिन्होंने आगे चलकर बौद्ध धर्म का बड़ा हित किया।

शान्तिदेव

शान्तिदेव का जन्म 687 ई० में गुजरात में हुआ था। इनको राजा मंजूवर्मा का पुत्र बताया गया है। कहा जाता है कि अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् शान्तिदेव राजसिंहासन के उत्तराधिकारी बने। किन्तु राज्याभिषेक से कुछ दिन पहले बोधिसत्व मंजूश्री इन्हें स्वप्न में दिखाई दीं और उन्हें धर्म के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया। इसके उपरान्त शान्तिदेव ने एक दिन छोड़ दिया और भिक्षु बन गए। भिक्षु बनने के बाद ये नालन्दा की ओर चल दिए। इक्कीस दिन के सफर के बाद ये नालन्दा पहुंचे। नालन्दा बौद्ध विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र था। नालन्दा में आकर वे जयदेव के शिष्य हो गए और उनसे धर्म की शिक्षा प्राप्त की। जयदेव नालन्दा के पीठ-स्थविर (प्रधानाचार्य) धर्मपाल के उत्तराधिकारी थे। यहां रहकर शान्तिदेव ने बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया तथा संस्कृत और पाली भाषाओं का गम्भीर अध्ययन किया।

शान्तिदेव नालन्दा में एक कुटी बनाकर रहते थे। इनका बचपन का नाम कुछ और था किन्तु अत्यन्त शान्त स्वभाव होने के कारण इनका नाम शान्तिदेव पड़ गया था। ये भुसुक नामक

की समाधि में रत रहते थे इसलिए इनका एक नाम 'भुसुक' भी था।

शान्तिदेव के विषय में एक घटना है। घटना के अनुसार अत्यन्त शान्त एव सरल स्वभाव होने के कारण छात्र इन्हें बिलकुल बुद्धू समझते थे। एक दिन छात्रों ने धर्मदेशना मंडप (जहाँ पर धर्म के बारे में व्याख्यान या प्रवचन होते थे) में शान्तिदेव को आसन पर बैठा दिया। छात्रों ने सोचा था कि शान्तिदेव कुछ बोल नहीं सकेंगे और फिर इन्हें खूब बुद्धू बनाया जाएगा। आसन पर बैठकर शान्तिदेव ने उनसे पूछा 'ऋषि वचनों का पाठ करूं अथवा अर्थतः ऋषि वचनों का पाठ करूं' यह सुनते ही सब लोग चकित रह गए और कहा कि हम लोग आर्ष (बुद्ध वचन) तो बहुत सुन चुके हैं आप अथार्ष (अर्थतः बुद्धवचन) सुनाइए। शान्तिदेव ने प्रवचन करना शुरू किया तो सब हतप्रभ रह गए। उन्होंने बड़ा लम्बा-चौड़ा व्याख्यान दिया। अपने इस प्रवचन पर बाद में उन्होंने बोधिचर्यावतार नामक ग्रन्थ लिखा।

'बोधिचर्यावतार' शान्तिदेव का बड़ा प्रसिद्ध ग्रन्थ है। किसी समय बहुत लोकप्रिय ग्रन्थ था। इसकी लोकप्रियता के कारण ही इस पर अनेकों टीकाएं लिखी गईं। संसार की सभी प्रमुख भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। तिब्बत में इस ग्रंथ का पाठ आज भी गीता की भाँति होता है।। भारत में भी हिमालय के सीमान्त प्रदेशों लद्दाख, हिमाचल प्रदेश और अरुणाचल प्रदेश में लाखों उपासक इस ग्रन्थ का पाठ करते है। मंगोलिया और चीन में भी इस ग्रन्थ का पाठ किया जाता है। बौद्ध धर्म की महायान शाखा के दर्शन को

सहज भाव से समझने के लिए यह बहुत ही उत्तम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के कारण बौद्ध जगत मे शान्तिदेव का बड़ा सम्मान है।

आचार्य शांतिदेव की 1300 वीं वर्ष गांठ पर भारत सरकार ने उनके सम्मान में 60 पैसे का डाक टिकट जारी किया है।

००